सुनसान के सहचर

— श्रीराम शर्मा आचार्य

युग-निर्माण-योजना, मथुरा

सुनसान के सहचर

लेखक :

वेदमूर्ति तपोनिष्ठ पं. श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रकाशक :

युग निर्माण योजना

गायत्री तपोभूमि, मथुरा ।

लेखक :

वेदमूर्ति तपोनिष्ठ पं. श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रथम संस्करण

मुद्रक :

युग निर्माण प्रेस

गायत्री तपोभूमि मथुरा ।

विषय-सूची

पुस्तक परिचय 5

हमारा अज्ञातवास और तप-साधना का उद्देश्य 7

हिमालय में प्रवेश 13

प्रकृति का रुद्राभिषेक 21

धरती पर देवभूमि के दर्शन - गंगा का उद्गम 33

हिमालय का हृदय-धरती का स्वर्ग 43

अध्यात्म साधना के लिए हिमालय की उपयोगिता 51

साधना के लिए गंगा-तट की महिमा और महत्ता 55

सुनसान की झोंपड़ी 61

सुनसान के सहचर 65

विश्व समाज की सदस्यता 69

हमारी जीवन साधना के अन्तरंग पक्ष-पहलू 73

हमारे दृश्य जीवन की अदृश्य अनुभूतियां 80

पुस्तक परिचय

****

इसे एक सौभाग्य, संयोग ही कहना चाहिये कि जीवन को आरम्भ से अन्त तक एक समर्थ सिद्ध पुरुष के संरक्षण में गतिशील रहने का अवसर मिल गया। जहां उस महान् मार्ग दर्शन ने जो भी आदेश दिये, वे ऐसे थे जिसमें इस अकिंचन जीवन की सफलता के साथ-साथ लोक-मंगल का महान् प्रयोजन भी जुड़ा रहा।

15 वर्ष की आयु से उनकी अप्रत्याशित अनुकम्पा बरसनी शुरू हुई। इधर से भी यह प्रयत्न हुए कि महान गुरु के गौरव के अनुरूप शिष्य बना जाय। सो एक प्रकार से उस सत्ता के सामने आत्म-समर्पण ही हो गया। कठपुतली की तरह अपनी समस्त शारीरिक और भावनात्मक क्षमताएं उन्हीं के चरणों पर समर्पित हो गई। जो आदेश हुआ उसे पूरी श्रद्धा के साथ शिरोधार्य और कार्यान्वित किया गया। अपना यही क्रम अब तक चला रहा है। अपने अद्यावधि क्रिया-कलापों को एक कठपुतली की उछल-कूल कहा जाय तो उचित विश्लेषण ही होगा।

पन्द्रह वर्ष समाप्त होने और सोलहवें में प्रवेश करते समय यह दिव्य साक्षात्कार मिलन हुआ। उसे ही विलय भी कहा जा सकता है। आरम्भ में 24 वर्ष तक जौ की रोटी और छाछ इन दो पदार्थों के आधार पर अखण्ड दीपक के समीप 24 गायत्री महापुरश्चरण करने की आज्ञा हुई। सो ठीक प्रकार सम्पन्न हुए। उसके बाद दस वर्ष धार्मिक चेतना उत्पन्न करने के लिये प्रचार और संगठन, लेखन, भाषण एवं रचनात्मक कार्यों की श्रृंखला चली। 4 हजार शाखाओं वाला गायत्री परिवार बनकर खड़ा हो गया। उन वर्षों में एक ऐसा संघ तन्त्र बनकर खड़ा हो गया, जिससे नवनिर्माण के लिए उपयुक्त आधारशिला कहा जा सके। चौबीस वर्ष की पुरश्चरण साधना का व्यय दस वर्ष में हो गया। अधिक ऊंची जिम्मेदारी को पूरा करने के लिये नई शक्ति की आवश्यकता पड़ी। सो इसके लिये फिर आदेश हुआ कि इस शरीर को एक वर्ष तक हिमालय के उन दिव्य स्थानों में रहकर विशिष्ट साधना करनी चाहिये, जहां अभी भी आत्म-चेतना का शक्ति प्रवाह प्रवाहित होता है। अन्य आदेशों की तरह यह आदेश भी शिरोधार्य ही हो सकता था।

सन् 58 में एक वर्ष के लिये हिमालय तपश्चर्या के लिये प्रयाण हुआ। गंगोत्री में भागीरथ के तपस्थान पर और उत्तरकाशी में परशुराम के तपस्थान पर यह एक वर्ष की साधना सम्पन्न हुई। भागीरथ की तपस्या गंगावरण को और परशुराम की तपस्या दिग्विजयी महापरशु प्रस्तुत कर सकी थी। नवनिर्माण के महान् प्रयोजन में अपनी तपस्या के कुछ श्रद्धाबिन्दु काम आ सके तो वह उसे भी साधना की सफलता ही कहा जा सकेगा।

उस एक वर्षीय तप साधना के लिये गंगोत्री जाते समय मार्ग में अनेक विचार उठते रहे। जहां-जहां रहना हुआ, वहां-वहां भी अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार मन में भाव भरी हिलोरें उठती रहीं। लिखने का व्यसन रहने से उन प्रिय अनुभूतियों को लिखा भी जाता रहा। उनमें से कुछ ऐसी थीं, जिनका रसास्वादन दूसरे करें तो लाभ उठायें। उन्हें अखण्ड-ज्योति में छपने भेज दिया गया। छप गई। अनेक ऐसी थीं जिन्हें प्रकट करना अपने जीवनकाल में उपयुक्त नहीं समझा गया सो नहीं भी छपाई गई।

उन दिनों 'साधक की डायरी के पृष्ठ', 'सुनसान के सहचर' आदि शीर्षक। ये जो लेख 'अखण्ड-ज्योति' पत्रिका में छपे वे लोगों को बहुत रुचे। बात पुरानी हो गई पर अभी लगा, उन्हें पढ़ने के लिये उत्सुक थे। सो इन लेखों को पुस्तकाकार में प्रकाशित कर देना उचित समझा गया। अस्तु यह पुस्तक प्रस्तुत की है। घटनाक्रम अवश्य पुराना हो गया पर उन दिनों की जो विचार अनुभूतियां

उठती रहीं, वे शाश्वत हैं, उनकी उपयोगिता में समय के पीछे पड़ जाने के कारण कुछ अन्तर नहीं आया है। आशा की जानी चाहिये वे भावनाशील अन्तःकरणों को वे अनुभूतियां अभी भी हमारी ही तरह ही—स्पंदित कर सकेंगी और पुस्तक की उपयोगिता एवं सार्थकता सिद्ध हो सकेगी।

एक विशेष लेख इसी संकलन में और है वह है—'हिमालय के हृदय का विवेचन विश्लेषण'। बद्रीनारायण से लेकर गंगोत्री के बीच का लगभग 400 मील परिधि का वह स्थान है, जहां प्रायः सभी देवताओं और ऋषियों का तप-केन्द्र रहा है। इसे ही धरती का स्वर्ग कहा जा सकता है। स्वर्ग कथाओं से जो घटनाक्रम एवं व्यक्ति चरित्र जुड़े हैं, उनकी यदि इतिहास, भूगोल से संगति मिलाई जाय तो वे धरती पर ही सिद्ध होते हैं और उस बात से बहुत वजन मालूम पड़ता है जिसमें इन्द्र के शासन एवं आर्य सभ्यता की संस्कृति का उद्गम स्थान हिमालय का उपरोक्त स्थान बनाया गया है। अब वहां बर्फ बहुत पड़ने लगी है। ऋतु परिस्थितियों की श्रृंखला में अब वह 'हिमालय का हृदय' असली उत्तराखण्ड इस योग्य नहीं रहा कि वहां आज के दुर्बल शरीरों वाला व्यक्ति निवास-स्थान बना सके। इसलिये आधुनिक उत्तराखण्ड नीचे चला गया और हरिद्वार से लेकर बद्रीनारायण गंगोत्री गोमुख तक ही उसकी परिधि सीमित हो गई है।

'हिमालय के हृदय' क्षेत्र में जहां प्राचीन स्वर्ग की भी विशेषता विद्यमान है, वहां तपस्याओं से प्रभावित शक्तिशाली आध्यात्मिक क्षेत्र भी विद्यमान है। हमारे मार्ग दर्शक वहां रहकर प्राचीनतम ऋषियों की इस तप संस्कारित भूमि से अनुपम शक्ति प्राप्ति करते हैं। कुछ समय के लिये हमें भी उस स्थान पर रहने का सौभाग्य मिला और वे दिव्य स्थान अपने भी देखने में आये। सो उनका जितना दर्शन हो सका उसका वर्णन अखण्ड-ज्योति में प्रस्तुत किया गया था। वह लेख भी अपने ढंग का अनोखा है। उससे संसार में एक ऐसे स्थान का पता चलता है, जिसे 'आत्म-शक्ति का ध्रुव' कहा जा सकता है। धरती के उत्तरी ध्रुव और दक्षिणी ध्रुवों में विशेष शक्तियां हैं। आध्यात्म शक्ति का एक ध्रुव हमारी अनुभव में आया है। जिसमें अत्यधिक महत्वपूर्ण उपलब्धियां भरी पड़ी हैं। सूक्ष्म शक्तियों की दृष्टि से भी और शरीरधारी सिद्धपुरुषों की दृष्टि से भी।

इस दिव्य केन्द्र की ओर लोगों का ध्यान बना रहे इस दृष्टि से उसका परिचय तो रहना ही चाहिये, इस दृष्टि से उस जानकारी को मूल्यवान् ही कहा जा सकता है जो 'हिमालय के हृदय' लेख में प्रस्तुत की गई है।

—श्रीराम शर्मा आचार्य,

***

हमारा अज्ञातवास और तप-साधना का उद्देश्य

****

तप की शक्ति अपार है। जो कुछ अधिक से अधिक शक्ति सम्पन्न तत्व इस विश्व में है, उसका मूल 'तप' में ही सन्निहित है। सूर्य तपता है इसलिये ही वह समस्त विश्व को जीवन प्रदान करने लायक प्राण भण्डार का अधिपति है। ग्रीष्म की ऊष्मा से जब वायु मण्डल भली प्रकार तप लेता है तो मंगलमयी वर्षा होती है। सोना तपता है तो खरा, तेजस्वी और मूल्यवान बनता है। जितनी भी धातुएं हैं वे सभी खान से निकलते समय दूषित, मिश्रित व दुर्बल होती हैं पर जब उन्हें कई बार भट्टियों में तपाया, पिघलाया और गलाया जाता है तो वे शुद्ध एवं मूल्यवान बन जाती हैं। कच्ची मिट्टी के बने हुए कमजोर खिलौने और बर्तन जरा से आघात में टूट सकते हैं। तपाये और पकाये जाने पर मजबूत एवं रक्त वर्ण हो जाते हैं। कच्ची ईंटें भट्टे में पकने पर पत्थर जैसी कड़ी हो जाती है। मामूली से कच्चे कंकड़ पकने पर चूना बनते हैं और उनके द्वारा बने हुये विशाल प्रासाद दीर्घ काल तक बने खड़े रहते हैं।

मामूली सा अभ्रक जब सौ, बार अग्नि में तपाया जाता है तो चन्द्रोदय रस बन जाता है। अनेकों बार अग्नि संस्कार होने से ही धातुओं की मूल्यवान भस्म रसायनें बन जाती हैं और उनसे अशक्ति एवं कष्ट साध्य रोगों में ग्रस्त रोगी पुनर्जीवन प्राप्त करते हैं। साधारण अन्न और दाल-शाक जो कच्चे रूप में न तो सुपाच्य होते हैं और न स्वादिष्ट। वे ही अग्नि संस्कार से पकाये जाने पर सुरुचि पूर्ण व्यंजनों का रूप धारण कर लेते हैं। धोबी की भट्टी में चढ़ने पर मैले-कुचैले कपड़े निर्मल एवं स्वच्छ बन जाते हैं। पेट की जठराग्नि द्वारा पचाया हुआ अन्न ही रक्त अस्थि का रूप धारण कर हमारे शरीर का भाग बनता है। यदि यह अग्नि संस्कार की, तप की प्रक्रिया बन्द हो जाय तो निश्चित रूप से विकास का सारा क्रम ही बन्द हो जायगा।

प्रकृति तपती है इसीलिए सृष्टि की सारी संचालन व्यवस्था चल रही है। जीव तपता है उसी से उसके अन्तराल में छिपे हुए पुरुषार्थ, पराक्रम, साहस, उत्साह, उल्लास, ज्ञान, विज्ञान प्रकृति रत्नों की श्रृंखला प्रस्फुटित होती है। माता अपने अण्ड एवं गर्भ को अपनी उदरस्थ ऊष्मा से पका कर शिशु को प्रसव करती है। जिन जीवों ने मूर्च्छित स्थिति से ऊंचे उठने की खाने सोने से कुछ अधिक करने की आकांक्षा की है; उन्हें तप करना पड़ा है। संसार में अनेकों पुरुषार्थ, पराक्रमी एवं इतिहास के पृष्ठों पर अपनी छाप छोड़ने वाले महापुरुष जो हैं, उन्हें किसी न किसी रूप में अपने-अपने ढंग का तप करना पड़ा है। कृषक, विद्यार्थी, श्रमिक, वैज्ञानिक, शासक, विद्वान, उद्योगी, कारीगर आदि सभी महत्वपूर्ण कार्य भूमिकाओं का सम्पादन करने वाले व्यक्ति वे ही बन सके हैं जिन्होंने कठोर श्रम, अध्यवसाय एवं तपश्चर्या की नीति को अपनाया है। यदि इन लोगों ने आलस्य, प्रमाद अकर्मण्यता, शिथिलता एवं विलासिता की नीति अपनाई होती तो वे कदापि उस स्थान पर न पहुंच पाते जो उन्होंने कष्ट सहिष्णु एवं पुरुषार्थी बनकर उपलब्ध किया है।

सभी पुरुषार्थों में आध्यात्मिक पुरुषार्थ का मूल्य और महत्व अधिक है ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार कि सामान्य सम्पत्ति की अपेक्षा आध्यात्मिक शक्ति सम्पदा की महत्ता अधिक है। धन, बुद्धि, बल आदि के आधार पर अनेकों व्यक्ति उन्नतिशील, सुखी एवं सम्मानित बनते हैं पर उन सबसे अनेकों गुना महत्व वे लोग प्राप्त करते हैं जिन्होंने आध्यात्मिक बल का संग्रह किया है। पीतल और सोने में कांच और रत्न में जो अन्तर है वही अन्तर सांसारिक सम्पत्ति एवं आध्यात्मिक सम्पदा के बीच में भी है। इस संसार में धनी, सेठ, अमीर, उमराव, गुणी, विज्ञान, कलावन्त बहुत हैं पर उनकी तुलना उन महात्माओं के साथ नहीं हो सकती जिनने अपने आध्यात्मिक पुरुषार्थ के द्वारा अपना ही नहीं सारे संसार का हित साधना किया। प्राचीनकाल में सभी समझदार लोग अपने बच्चों को

कष्ट सहिष्णु अध्यवसायी, तितीक्षाशील एवं तपस्वी बनाने के लिये छोटी आयु में ही गुरुकुलों में भर्ती करते थे ताकि आगे चलकर वे कठोर जीवन यापन करके अभ्यस्त होकर महापुरुषों की महानता के अधिकारी बन सकें।

संसार में जब कभी कोई महान कार्य सम्पन्न हुए हैं तो उनके पीछे तपश्चर्या की शक्ति अवश्य रही है। हमारा देश देवताओं और नररत्नों का देश रहा है। यह भारतभूमि स्वर्गादपि गरीयसी कहलाती रही है, ज्ञान, पराक्रम और सम्पदा की दृष्टि से यह राष्ट्र सदा से विश्व का मुकुटमणि रहा है। उन्नति के इस उच्च शिखर पर पहुंचने का कारण यहां के निवासियों की प्रचण्ड तप निष्ठा ही रही है, आलसी और विलासी, स्वार्थी और लोभी लोगों को यहां सदा से घृणित एवं निष्कृष्ट श्रेणी का जीव माना जाता रहा है। तप शक्ति की महत्ता को यहां के निवासियों ने पहचाना, तत्वत कार्य किया और उसके उपार्जन में पूरी तत्परता दिखाई तभी यह संभव हो सका कि भारत को जगद्गुरु, चक्रवर्ती शासक एवं सम्पदाओं के स्वामी होने का इतना ऊंचा गौरव प्राप्त हुआ।

पिछले इतिहास पर दृष्टि डालने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत बहुमुखी विकास तपश्चर्या पर आधारित एवं अवलंबित रहा है। सृष्टि के उत्पन्न कर्ता प्रजापति ब्रह्माजी के सृष्टि निर्माण के पूर्व विष्णु की नाभि से उत्पन्न कमल पुष्प पर अवस्थित होकर सौ वर्षों तक गायत्री उपासना के आधार पर तप किया तभी उन्हें सृष्टि निर्माण एवं ज्ञान विज्ञान के उत्पादन की शक्ति उपलब्ध हुई। मानव धर्म के आविष्कर्ता भगवान मनु ने अपनी रानी शतरूपा के साथ प्रचण्ड तप करने के पश्चात् ही अपना महत्व पूर्ण उत्तरदायित्व पूर्ण किया था, भगवान शंकर स्वयं तप रूप हैं। उनका प्रधान कार्यक्रम सदा से तप साधना ही रहा। शेष जी तप के बल पर ही इस पृथ्वी को अपने शीश पर धारण किए हुए हैं। सप्त ऋषियों ने इसी मार्ग पर दीर्घ काल तक चलते रह कर वह सिद्धि प्राप्त की जिससे सदा उनका नाम अजर अमर रहेगा। देवताओं के गुरु बृहस्पति और असुरों के गुरु शुक्राचार्य अपने-अपने शिष्यों के कल्याण मार्ग दर्शन और सफलता की साधना अपनी तप शक्ति के आधार पर ही करते रहे हैं।

नई सृष्टि रच डालने वाले विश्वामित्र की, रघुवंशी राजाओं का अनेक पीढ़ियों तक मार्गदर्शन करने वाले वशिष्ठ की क्षमता तथा साधना इसी में ही अन्तर्हित थी। एक बार राजा विश्वामित्र जब वन में अपनी सेना को लेकर पहुंचे तो वशिष्ठजी ने कुछ सामान न होने पर भी सारी सेना का समुचित आतिथ्य कर दिखाया तो विश्वामित्र दंग रह गये। किसी प्रसंग को लेकर जब निहत्थे वशिष्ठ और विशाल सेना सम्पन्न विश्वामित्र में युद्ध ठन गया तो तपस्वी वशिष्ठ के सामने राजा विश्वामित्र को परास्त ही होना पड़ा। उन्होंने ''धिग् बलं आश्रम बलं ब्रह्म तेजो बलं बलम् ।'' की घोषणा करते हुए राजपाट छोड़ दिया और सबसे महत्व पूर्ण शक्ति की तपश्चर्या के लिए शेष जीवन समर्पित कर दिया।

अपने नरक गामी पूर्व पुरुषों का उद्धार करने तथा प्यासी पृथ्वी को जल पूर्ण करके जन-समाज का कल्याण करने के लिए गंगावतरण की आवश्यकता थी। इस महान उद्देश्य की पूर्ति लौकिक पुरुषार्थ से नहीं वरन् तपशक्ति से ही सम्भव थी। भागीरथ कठोर तप करने के लिये वन को गये और अपनी साधना से प्रभावित कर गंगा जी को भूलोक में लाने एवं शिवजी को उन्हें अपनी जटाओं में धारण करने के लिए तैयार कर लिया। यह कार्य साधारण प्रक्रिया से सम्पन्न न होते। तप ने ही उन्हें सम्भव बनाया।

च्यवन ऋषि इतना कठोर दीर्घ-कालीन तप कर रहे थे कि उनके सारे शरीर पर दीमक ने अपना घर बना लिया था और उनका शरीर एक मिट्टी के टीला जैसा बन गया था। राजकुमारी सुकन्या को दो छेदों में से दो चमकदार चीजें दीखीं और उनमें उसने कांटे चुभो दिए। यह चमकदार चीजें और कुछ नहीं च्यवन ऋषि की आंखें थीं। च्यवन ऋषि को इतनी कठोर तपस्या इसीलिए करनी पड़ी कि वे अपनी अन्तरात्मा में सन्निहित शक्ति केन्द्रों को जागृत करके परमात्मा के अक्षय शक्ति भण्डार में भागीदार मिलने की अपनी योग्यता सिद्ध कर सकें।

शुकदेव जी जन्म से साधन रत हो गये। उन्होंने मानव जीवन का एक मात्र सदुपयोग इसी में समझा कि इसका उपयोग आध्यात्मिक प्रयोजनों में करके नर-तनु जैसे सुर दुर्लभ सौभाग्य का सदुपयोग किया जाय। वे चकाचौंध पैदा करने वाले वासना एवं तृष्णा जन्य प्रलोभनों को दूर से नमस्कार करके ब्रह्मज्ञान की ब्रह्म तत्व की उपलब्धि में संलग्न हो गये।

तपस्वी ध्रुव ने खोया कुछ नहीं। यदि वे साधारण राजकुमार की तरह मौज शौक का जीवन यापन करता तो समस्त ब्रह्माण्ड का केन्द्र बिन्दु ध्रुवतारा बनने और अपनी कीर्ति को अमर बनाने का लाभ उसे प्राप्त न हो सका होता। उस जीवन में भी उसे जितना विशाल राज-पाट मिला उतना अपने पिता की अधिक से अधिक कृपा प्राप्त होने पर भी उसे उपलब्ध न हुआ होता। पृथ्वी पर बिखरे अन्न कणों को बीन कर अपना निर्वाह करने वाले कणाद ऋषि, वट वृक्ष के दूध पर गुजारा करने वाले बाल्मीकि ऋषि भौतिक विलासिता से वंचित रहे पर इसके बदले में जो कुछ पाया वह बड़ी से बड़ी सम्पदा से कम न था।

भगवान बुद्ध और भगवान महावीर ने अपने काल की लोक दुर्गति को मिटाने के लिए तपस्या को ही ब्रह्मास्त्र के रूप में योग्य किया। व्यापक हिंसा और असुरता के वातावरण को दया और हिंसा के रूप में परिवर्तित कर दिया। दुष्टता को हटाने के लिये यों अस्त्र-शस्त्रों का दण्ड-दमन का मार्ग सरल समझा जाता है पर वह भी सेना एवं आयुधों की सहायता से उनका नहीं हो सकता जितना तपोबल से। अत्याचारी शासकों का सभी पृथ्वी से उन्मूलन करने के लिए परशुरामजी का फरसा अभूत पूर्व अस्त्र सिद्ध हुआ। उसी से उन्होंने बड़ी-बड़े सेना सामन्तों से सुसज्जित राजाओं को परास्त करके 21 बार पृथ्वी को राजाओं से रहित कर दिया। अगस्त का कोप बेचारा समुद्र क्या सहन करता। उन्होंने तीन चुल्लुओं में सारे समुद्र को उदरस्थ कर लिया। देवता जब किसी प्रकार असुरों को परास्त न कर सके, लगातार हारते ही गये तो तपस्वी दधीचि की तेजस्वी हड्डियों का वज्र प्राप्त कर इन्द्र से देवताओं की नाव को पार लगाया।

प्राचीन काल में विद्या का अधिकारी वही माना जाता था जिसमें तितीक्षा एवं कष्ट सहिष्णुता की क्षमता होती थी, ऐसे ही लोगों के हाथ में पहुंच कर विद्या उसका समस्त संसार का लाभ करती थी। आज विलासी और लोभी प्रकृति के लोगों को ही विद्या सुलभ हो गई। फल स्वरूप वे उसका दुरुपयोग भी खूब कर रहे हैं। हम देखते हैं कि अशिक्षितों की अपेक्षा सुशिक्षित ही मानवता से अधिक दूर हैं और वे ही विभिन्न प्रकार की समस्यायें उत्पन्न करके संसार की सुख-शान्ति के लिए अभिशाप बने हुए हैं। प्राचीन काल में प्रत्येक अभिभावक अपने बालकों को तपस्वी मनोवृत्ति का बनाने के लिए उन्हें गुरुकुलों में भेजता था और गुरुकुलों के संचालक बहुत समय तक बालकों में कष्ट सहिष्णुता जागृत करते थे और जो इस प्रारम्भिक परीक्षा से सफल होते थे, उन्हें ही परीक्षाधिकारी मान कर विद्यादान करते थे। उद्दालक, आरुणि आदि अगणित छात्रों को कठोर परीक्षाओं में से गुजरना पड़ता था। इसका वृत्तान्त सभी को मालूम है।

ब्रह्मचर्य तप का प्रधान अंग माना गया है। बजरंगी हनुमान, बालब्रह्मचारी भीष्मपितामह के पराक्रमों से हम सभी परिचित हैं। शंकराचार्य, दयानन्दप्रभृति अनेकों महापुरुष अपने ब्रह्मचर्य व्रत के आधार पर ही संसार की महान् सेवा कर सके। प्राचीन काल में ऐसे अनेकों ग्रहस्थ होते थे जो विवाह होने पर भी पत्नी समेत अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करते थे।

आत्मबल प्राप्त करके तपस्वी लोग उस तप बल से न केवल अपना आत्म कल्याण करते थे वरन् अपनी थोड़ी सी शक्ति अपने शिष्यों को देकर उनको भी महापुरुष बना देते थे। विश्वामित्र के आश्रम में रह कर रामचन्द्र जी का, संदीपन ऋषि के गुरुकुल में पढ़कर कृष्णचन्द्र जी का ऐसा निर्माण हुआ कि भगवान ही कहलाये। समर्थ गुरु रामदास के चरणों में बैठकर एक मामूली सा मराठा बालक, छत्रपति शिवाजी बना। रामकृष्ण परमहंस से शक्ति कण पाकर नास्तिक नरेन्द्र, संसार का श्रेष्ठ धर्म प्रचारक विवेकानन्द

कहलाया। प्राण रक्षा के लिए मारे-मारे फिरते हुए इन्द्र को महर्षि दधीचि ने अपनी हड्डियां देकर उसे निर्भय बनाया, नारद का जरासा उपदेश पाकर डाकू बाल्मीकि महर्षि बाल्मीकि बन गया।

उत्तम सन्तान प्राप्त करने के अभिलाषी भी तपस्वियों के अनुग्रह से सौभाग्यान्वित हुए हैं। श्रृंगी ऋषि द्वारा आयोजित पुत्रेष्टि यज्ञ के द्वारा तीन विवाह कर लेने पर भी संतान न होने पर राजा दशरथ को चार पुत्र प्राप्त हुए। राजा दिलीप ने चिरकाल तक अपनी रानी समेत वशिष्ठ के आश्रम में रहकर गौ चरा कर जो अनुग्रह प्राप्त किया उसके फलस्वरूप ही डूबता वंश चला, पुत्र प्राप्त हुआ। पाण्डु जब सन्तानोत्पादन में असमर्थ रहे तो व्यास जी के अनुग्रह से परम प्रतापी पांच पाण्डव उत्पन्न हुए। श्री जवाहरलाल नेहरू के बारे में कहा जाता है कि उनके पिता मोतीलाल नेहरू जब चिरकाल तक संतान से वंचित रहे तो उनकी चिन्ता दूर करने के लिए हिमालय निवासी एक तपस्वी ने अपना शरीर त्यागा और उनका मनोरथ पूर्ण किया। अनेकों ऋषि-कुमार अपने माता-पिता के प्रचण्ड आध्यात्मबल को जन्म से ही साथ लेकर पैदा होते थे और वे बालकपन में वे कर्म कर लेते थे जो बड़ों के लिए भी कठिन होते हैं। लोमश ऋषि के पुत्र श्रृंगी ऋषि ने राजा परीक्षत द्वारा अपने पिता के गले में सर्प डाला जान देखकर क्रोध में शाप दिया कि सात दिन में यह कुकृत्य करने वाले को सर्प काट लेगा। परीक्षत की सुरक्षा के भारी प्रयत्न किये जाने पर सर्प से काटे जाने का ऋषि कुमार का शाप सत्य ही होकर रहा।

शाप और वरदानों के आश्चर्य जनक परिणामों की चर्चा से हमारे प्राचीन इतिहास का पन्ना भरा पड़ा है। श्रवणकुमार को तीर मारने के दंड स्वरूप उसके पिता ने राजा दशरथ को शाप दिया कि वह भी पुत्र-शोक से इसी प्रकार बिलख-बिलख कर मरेगा, तपस्वी के मुख से निकला हुआ वचन असत्य नहीं हो सकता था, दशरथ को उसी प्रकार मरना पड़ा था। गौतम ऋषि के शाप से इन्द्र और चन्द्रमा जैसे देवताओं की दुर्गति हुई। राजा सगर के दस हजार पुत्रों को कपिल के क्रोध करने के फलस्वरूप जल कर भस्म होना पड़ा। प्रसन्न होने पर देवताओं की भांति तपस्वा ऋषि भी वरदान प्रदान करते थे और दुख दारिद्र से पीड़ित अनेकों व्यक्ति सुख-शांति के अवसर प्राप्त करते थे।

पुरुष ही नहीं तप साधना के क्षेत्र में भारत की महिलाएं भी पीछे न थीं। पार्वती ने प्रचण्ड तप करके मदन-दहन करने वाले समाधिस्थ शंकर को विवाह करने के लिए विवश किया, अनुसूया ने अपनी आत्मशक्ति से ब्रह्मा, विष्णु, महेश को नन्हे-नन्हे बालक के रूप में परिणित कर दिया। सुकन्या ने तप करके अपने वृद्ध पति को युवा बनाया। सावित्री ने यम से संघर्ष करके अपने मृतक पति के प्राण लौटाये। कुन्ती ने सूर्य का तप करके कुमारी अवस्था में सूर्य के समान तेजस्वी कर्ण को जन्म दिया। क्रुद्ध गान्धारी ने कृष्ण को शाप दिया कि जिस प्रकार मेरे कुल का नाश किया है वैसे ही तेरे कुल का इसी प्रकार परस्पर संघर्ष में अन्त होगा। उसके वचन मिथ्या नहीं गये। सारे यादव आपस में ही लड़कर नष्ट हो गये। दमयन्ती के शाप से व्याध को जीवित जल जाना पड़ा। इड़ा ने अपने पिता मनु का यज्ञ सम्पन्न कराया और उनके अभीष्ट प्रयोजन करने में सहायता की। इन आश्चर्य-जनक कार्यों के पीछे उनकी तप-शक्ति की महिमा प्रत्यक्ष है।

देवताओं और ऋषियों की भांति ही असुर भी यही भली-भांति जानते थे कि तप में ही शक्ति की वास्तविकता केन्द्रित है। उनने भी प्रचण्ड तप किए और वरदान प्राप्त किए जो सुर पक्ष के तपस्वी भी प्राप्त न कर सके थे। रावण ने अनेकों बार शिर का सौदा करने वाली तप साधना की और शंकर जी को इंगित करके अजेय शक्तियों का भण्डार प्राप्त किया। कुम्भकरण ने तप द्वारा ही छः-छः महीने सोने-जागने का अद्भुत वरदान पाया था। मेघनाद, अहिरावण और मारीचि की विभिन्न माया शक्ति भी उन्हें तप द्वारा ही मिली थी। भस्मासुर ने सिर पर हाथ रखने से किसी को भी जला देने की शक्ति तप करके ही प्राप्त की थी। हिरण्यकश्यपु, हिरण्याक्ष,

सहस्रबाहु, बालि आदि असुरों के पराक्रम का भी मूल आधार तप ही था। विश्वामित्र और राम के लिए सिर दर्द बनी हुई ताड़का श्री कृष्ण चन्द्र के प्राण लेने का सहारा करने वाली पूतना, हनुमान को निगल जाने में सीता को नाना प्रकार के कौतूहल दिखाने वाली त्रिजटा आदि अनेकों असुर नारियां भी ऐसी थीं जिनने आध्यात्मिक क्षेत्र में अच्छा खासा परिचय दिया है।

इस प्रकार के दस-बीस नहीं हजारों-लाखों-प्रसंग भारतीय इतिहास में मौजूद हैं, जिनसे तप शक्ति के लाभों से लाभान्वित होकर साधारण नर तनुधारी जीवों ने विश्व को चमत्कृत कर देने वाले स्वरूप पर कल्याण के महान् आयोजन पूर्ण करने वाले उदाहरण उपस्थित किए हैं। इस युग में महात्मा गांधी, सन्त विनोबा, ऋषि दयानन्द, मीरा, कबीर, दादू, तुलसीदास, सूरदास, रैदास, अरविन्द, महर्षि रमण, रामकृष्ण परमहंस, रामतीर्थ आदि आत्मबल सम्पन्न व्यक्तियों द्वारा जो कार्य किए गये हैं वे साधारण भौतिक पुरुषार्थी द्वारा पूरे किए जाने पर सम्भव न थे। हमने भी अपने जीवन के आरम्भ से ही वह तपश्चर्या का कार्य अपनाया है। 24 महापुरश्चरणों के कठिन तप द्वारा उपलब्ध शक्ति का उपयोग उन्होंने लोक कल्याण में किया है। फलस्वरूप अगणित व्यक्ति हमारी सहायता से भौतिक उन्नति एवं आध्यात्मिक प्रगति की उच्च कक्षा तक पहुंचे हैं। अनेकों को भारी व्यथा-व्याधियों से, चिन्ता-परेशानियों से छुटकारा मिला है। साथ ही धर्म जागृति एवं नैतिक पुनरुत्थान की दिशा में आशा जनक कार्य हुआ है। 24 लक्ष गायत्री उपासकों का निमार्ण एवं 24 हजार कुण्डों के यज्ञों का संकल्प इतना महान् था कि सैकड़ों व्यक्ति मिलकर कई जन्मों में भी पूर्ण नहीं कर सकते किंतु वह सब कार्य कुछ ही दिनों में बड़े आनन्द पूर्वक पूर्ण हो गये। गायत्री तपोभूमि का, गायत्री परिवार का निर्माण एवं वेद भाष्य का प्रकाशन ऐसे कार्य हैं जिनके पीछे साधना तपश्चर्या का ही प्रताप झांक रहा है।

आगे और भी प्रचण्ड तप करने का निश्चय किया है और भावी जीवन को तप-साधना में ही लगा देने का निश्चय किया है तो इसमें कुछ आश्चर्य की बात नहीं है। हम तप का महत्व समझ चुके हैं कि संसार के बड़े से बड़े पराक्रम पुरुषार्थ एवं उपार्जन की तुलना में तथा तप-साधना का मूल्य अत्यधिक है। जौहरी कांच को फेंक कर रत्न की साज संभाल करता है। हमने भी भौतिक सुखों को लात मार कर यदि तप की सम्पत्ति एकत्रित करने का निश्चय किया है तो उससे मोह-ग्रस्त परिजन भले ही खिन्न होते रहें वस्तुतः उस निश्चय में दूर-दर्शिता और बुद्धिमत्ता ही ओत-प्रोत है।

राजनैतिक और वैज्ञानिक दोनों मिलकर इन दिनों जो रचना कर रहे हैं वह केवल आग लगाने वाली, नाश करने वाली ही है। ऐसे हथियार तो बन रहे हैं जो विपक्षी देशों को तहस नहस करने में अपनी विजय पताका गर्व पूर्वक फहरा सकें। पर ऐसे शस्त्र कोई नहीं बना पा रहा है जो लगाई हुई आग को बुझा सके, आग लगाने वालों के हाथों को कुंठित कर सके। और जिनके दिलों व दिमागों में नृशंसता की भट्टी जलती है, उनमें शान्ति एवं सौभाग्य की सरसता प्रवाहित कर सके। ऐसे शान्ति शस्त्रों का निर्माण राजधानियों में, वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं में नहीं हो सकता है। प्राचीन काल में जब भी इस प्रकार की आवश्यकता अनुभव हुई है तब तपोवनों की प्रयोगशाला में तप साधना के महान् प्रयत्नों द्वारा ही शान्ति शस्त्र तैयार किये गये हैं। पूज्य आचार्य जी तथा उनकी सरीखी और भी कई आत्माएं इसी प्रयत्न के लिए अग्रसर हुई हैं।

संसार को, मानव जाति को सुखी और समुन्नत बनाने के लिए अनेक प्रयत्न हो रहे हैं, उद्योग धंधे, कलकारखाने, रेल, तार, सड़क बांध, स्कूल, अस्पताल आदि का बहुत कुछ निर्माण कार्य चल रहा है। इससे गरीबी और बीमारी, अशिक्षा और असभ्यता का बहुत कुछ समाधान होने की आशा की जाती है। पर मानव अन्तःकरणों में प्रेम और आत्मीयता का, स्नेह और सौजन्य का, आस्तिकता और धार्मिकता का, सेवा और संयम का निर्झर प्रवाहित किये बिना विश्व शान्ति की दिशा में कोई ठोस कार्य न हो सकेगा। जब तक सन्मार्ग की प्रेरणा देने वाले, गांधी, दयानन्द, शंकराचार्य, बुद्ध, महावीर, नारद, व्यास जैसे आत्मबल सम्पन्न मार्ग

दर्शक न हों तब तक लोक मानस को ऊंचा उठाने के प्रयत्न सफल न होंगे। लोक मानस को ऊंचा उठाये बिना, पवित्र और आदर्शवादी भावनाएं उत्पन्न किये बिना लोक की गतिविधियां ईर्ष्या-द्वेष, शोषण, अपहरण, आलस्य, प्रमाद, व्यभिचार, पापाचार से रहित न होंगी तक तक क्लेश और कलह से, रोग और दारिद्र से कदापि छुटकारा न मिलेगा।

लोक मानस को पवित्र, सात्विक एवं मानवता के अनुरूप नैतिकता से परिपूर्ण बनाने के लिये जिन सूक्ष्म आध्यात्मिक दिव्य तरंगों का प्रवाहित किया जाना आवश्यक है, वे उच्चकोटि की आत्माओं द्वारा विशेष तप साधना से ही उत्पन्न होंगी। मानवता की, धर्म और संस्कृति का यही सबसे बड़ी सेवा है। आज इन प्रयत्नों की तुरन्त आवश्यकता अनुभव की जाती है क्योंकि जैसे-जैसे दिन बीतते जाते हैं असुरता का पल्ला अधिक भारी होता जाता है। देरी करने में अहित और अनिष्ट की ही अधिक सम्भावना हो सकती है।

समय की इसी पुकार ने हमें वर्तमान कदम उठाने को अज्ञातवास में जाने को बाध्य किया है। हमने अपने व्यक्तिगत लाभ के लिये आज तक कुछ भी प्रयत्न नहीं किया है। धन ऐश्वर्य कमाना तो दूर आध्यात्मिक साधनाओं के लिये भी हमारा दृष्टिकोण व्यक्तिगत लाभ नहीं रहा। जो कुछ भी जप-तप करते हैं प्रायः उसी दिन किसी पीड़ित परेशान व्यक्ति के कल्याण के लिये अथवा संसार में धार्मिक वातावरण उत्पन्न करने के लिए उसे दान कर देते हैं। अभी कई जन्म भी लेने का विचार है। संसार में धर्म की स्थापना हुये बिना, मानव प्राणी के अन्तराल में मानवता की समुचित प्रतिष्ठापना किये बिना किसी स्वर्ग मुक्ति में जाने का हमारा विचार बिलकुल ही नहीं है। इसलिये हम अपने लिये कोई सिद्धि नहीं चाहते। विश्व हित ही उनका अपना हित है। इसी लक्ष को लेकर तप की अधिक उग्र अग्नि में अपने को तपाने को वर्तमान कदम उठाया है।

----***----

हिमालय में प्रवेश

****

मृत्यु भी भयानक सकड़ी पगडंडी—

आज बहुत दूर तक विकट रास्ते से चलना पड़ा। नीचे गंगा बह रही थी ऊपर पहाड़ खड़ा था। पहाड़ के निचले भाग में होकर चलने की संकड़ी सी पगडंडी थी। उसकी चौड़ाई मुश्किल से तीन फुट कहीं होगी। उसी पर होकर चलना था एक पैर भी इधर उधर हो जाय तो नीचे गरजती हुई गंगा के गर्भ में जल समाधि लेने में कुछ भी देर न थी। जरा बच कर चलें तो दूसरी ओर सैकड़ों फुट ऊंचा पर्वत सीधा तना खड़ा था यह एक इंच भी अपनी जगह से हटने को तैयार न था। संकड़ी सी पगडंडी पर संभाल-संभाल कर एक एक कदम रखना पड़ता था। क्योंकि जीवन और मृत्यु के बीच एक डेढ़ फुट का अन्तर था।

मृत्यु का डर कैसा होता है उसका अनुभव जीवन में पहली बार हुआ। एक पौराणिक कथा सुनी थी की राजा जनक ने शुकदेवजी को अपने कर्मयोगी होने की स्थिति समझाने के लिए तेल का भरा कटोरा हाथ में देकर नगर के चारों ओर भ्रमण करते हुए वापिस आने को कहा और साथ ही कह दिया था कि यदि एक बूंद भी तेल फैला तो वहीं गरदन काट दी जायगी। शुकदेव जी मृत्यु के डर से कटोरे से तेल न फैलने की सावधानी करते हुए चले। सारा भ्रमण कर लिया पर उन्हें तेल के अतिरिक्त और कुछ न दीखा। जनक ने तब उनसे कहा कि जिस प्रकार मृत्यु के भय से तेल की बूंद भी न फैलने दी और सारा ध्यान कटोरे पर ही रखा। उसी प्रकार मैं भी मृत्यु भय को सदा ध्यान में रखता हूं जिससे किसी कर्तव्य कर्म में न तो प्रमाद होता है और न मन व्यर्थ की बातों में भटक कर चंचल होता है।

इस कथा का स्पष्ट और व्यक्तिगत अनुभव आज उस संकड़े विकट रास्ते को पार करते हुए किया। हम लोग कई पथिक साथ थे। वैसे रास्ते में खूब हंसते बोलते चलते थे पर जहां वह संकड़ी पगडंडी आई कि सभी चुप हो गये। बात-चीत के सभी विषय समाप्त थे, न किसी को घर की याद आ रही थी और न किसी अन्य विषय पर ध्यान था चित्त पूर्ण एकाग्र था और केवल यही एक प्रश्न पूरे मनोयोग के साथ चल रहा था कि अगला पैर ठीक जगह पर पड़े। एक हाथ से हम लोग पहाड़ को भी पकड़ते चलते थे। यद्यपि उसमें पकड़ने जैसी कोई चीज नहीं थी तो भी इस आशा से कि यदि शरीर की झोंक गंगा की तरह झुकी तो उस सन्तुलन को ठीक रखने में पहाड़ को पकड़-पकड़ कर चलने का उपक्रम कुछ न कुछ सहायक होगा। इस प्रकार डेढ़-दो मीन की यह यात्रा बड़ी कठिनाई के साथ पूरी की। दिल हर घड़ी धड़कता रहा। जीवन को बचाने के लिए कितनी सावधानी की आवश्यकता है, यह पाठ क्रियात्मक रूप से आज ही पढ़ा।

यह विकट यात्रा पूरी हो गई, पर अब जी में कई विचार उसके स्मरण के साथ-साथ उठ रहे हैं। सोचता हूं यदि हम सदा मृत्यु को निकट ही देखते रहें तो व्यर्थ की बातों पर मन दौड़ाने वाली मृग तृष्णाओं से बच सकते हैं। जीवन लक्ष की यात्रा भी हमारी आज की यात्रा के समान ही है। जिसमें हर कदम साध-साध कर रखा जाना जरूरी है। यदि एक भी कदम गलत या गफलत भरा उठ जाय तो मानव जीवन के महान् लक्ष से पतित होकर हम एक अथाह गर्त में गिर सकते हैं। जीवन हमें प्यारा है तो उस प्यार को चरितार्थ करने का एक ही तरीका है कि सही तरीके से अपने को चलाते हुए इस संकड़ी पगडण्डी से पार ले चलें जहां से शान्ति पूर्ण यात्रा पर चल पड़ेगा। मनुष्य जीवन ऐसा ही उत्तरदायित्व पूर्ण है जैसा उस गंगा तट की संकड़ी पगडण्डी पर चलने वालों का। उसे ठीक तरह निवाह देने पर ही सन्तोष की सांस ले सके और यह आशा कर सके कि उस अभीष्ट तीर्थ के दर्शन कर सकेंगे। कर्तव्य पालन की पगडण्डी ऐसी ही संकड़ी है। उसमें लापरवाही बरतने पर जीवन लक्ष के प्राप्त होने की आशा कौन कर सकता है। धर्म को पहाड़ की दीवार की

तरह पकड़ कर चलने पर हम अपना वह सन्तुलन बनाये रह सकते जिससे खतरे की ओर झुक पड़ने का भय कम हो जाय। आदि वक्त में इस दीवार का सहारा ही हमारे लिये बहुत कुछ है। धर्म की आस्था भी जीवन लक्ष की मंजिल को ठीक तरह पार कराने में बहुत कुछ मानी जायगी।

चांदी के पहाड़

आज सुक्की चट्टी पर धर्मशाला के ऊपर मंजिल की कोठरी में ठहरे थे, सामने ही बर्फ से ढकी पर्वत की चोटी दिखाई पर रही थी। बर्फ से पिघल कर धीरे-धीरे पानी का रूप धारण कर रही थी। वह एक झरने के रूप में नीचे की तरफ बह रहा था। कुछ बर्फ पूरी तरह गलने से पहले ही पानी के साथ मिलकर बहने लगती थी इसलिए दूर से झरना ऐसा लगता था मानो फेनदार दूध ही ऊपर बहता चला आ रहा हो। दृश्य बहुत ही शोभायमान था, उसे देख-देखकर आंखें ठण्डी हो रही थी।

जिस कोठरी में अपना ठहरना था उससे तीसरी कोठरी में अन्य यात्री ठहरे हुए थे। उनमें दो बच्चे भी थे एक लड़की दूसरा लड़का। दोनों की उम्र 11-12 वर्ष के लगभग रही होगी, उनके माता—पिता यात्रा पर थे। इन बच्चों को कुलियों के पीठ पर इस प्रान्त में चलने वाली 'कण्डी' सवारी में बिठाकर लाये थे। बच्चे बहुत हंसमुख और बातून थे।

दोनों में बहस हो रही थी कि यह सफेद चमकता हुआ पहाड़ किस चीज का है। उनने कहीं सुन रखा था कि धातुओं की खानें पहाड़ों में होती हैं। बच्चे ने संगति मिलाई कि पहाड़ चांदी का है। लड़की को इसमें सन्देह हुआ, वह यह तो नहीं सोच सकी कि चांदी का न होगा तो और किस चीज का होगा। पर यह जरूर सोचा कि इतनी चांदी इस प्रकार खुली पड़ी होती तो कोई न कोई उसे उठा ले जाने की कोशिश जरूर करता। वह लड़के की बात से सहमत नहीं हुई। बहस और जिद्दा जिद्दी चल पड़ी।

मुझे विवाद मनोरंजन लगा, बच्चे भी प्यारे लगे। दोनों को बुलाया और समझाया कि यह पहाड़ तो पत्थर का है पर ऊंचा होने के कारण बर्फ जम गई है। गर्मी पड़ने पर यह बर्फ पिघल जाती है और सर्दी पड़ने पर जमने लगती हैं। वह बर्फ ही चमकने पर चांदी जैसी लगती है। बच्चों का एक समाधान तो हो गया पर वे उसी सिलसिले में और ढेरों प्रश्न पूछते गये मैं भी उनके ज्ञान-वृद्धि की दृष्टि से पर्वतीय जानकारी से सम्बन्धित बहुत सी बातें उन्हें बताता रहा।

सोचता हूं बचपन में मनुष्य की बुद्धि कितनी अविकसित होती है कि वह बर्फ जैसी मामूली चीज को चांदी जैसी मूल्यवान समझता है। बड़े आदमी की सूझ-बूझ ऐसी नहीं होती वह वस्तु स्थिति को गहराई से सोच और समझ सकता है। यदि छोटेपन में ही इतनी समझ आ जाय तो बच्चों की भी यथार्थता के पहचानने में कितनी सुविधा हो।

पर मेरा यह सोचना भी गलत ही है। क्योंकि बड़े होने पर भी मनुष्य समझदार कहां हो पाता है। जैसे ही दोनों बच्चे बर्फ को चांदी समझ रहे थे उसी प्रकार चांदी-तांबे के टुकड़ों को, इन्द्रिय छेदों पर मचने वाली खुजली को, नगण्य अहंकार को, तुच्छ शरीर को बड़ी आयु का मनुष्य भी न जाने कितना अधिक महत्व दें डालता है और उनकी ओर इतना आकर्षित होता है कि जीवन लक्ष को भुलाकर भविष्य को अन्धकारमय बना लेने की परवा नहीं करता।

सांसारिक क्षणिक और सारहीन आकर्षणों में हमारा मन उनसे भी अधिक तल्लीन हो जाता है जितना कि छोटे बच्चों का मिट्टी के खिलौने के साथ खेलने में, कागज की नाव बहाने में लगता है। पढ़ना-लिखना, खाना-पीना छोड़कर पतंग उड़ाने में निमग्न बालक को अभिभावक उसकी अदूरदर्शिता पर धमकाते पर हम बड़ी आयु वालों को कौन धमकाये? जो आत्म स्वार्थ को भुलाकर

विषय विकारों के इशारे पर नाचने वाली कठपुतली बने हुए हैं। बर्फ चांदी नहीं है यह बात मानने में इन बच्चों का समाधान हो गया था पर तृष्णा और वासना जीवन लक्ष नहीं है इस हमारी भ्रान्ति का कौन समाधान करे?

पीली मक्खियां

आज हम लोग सघन वन में होकर चुपचाप चले आ रहे थे तो सेवार के पेड़ों पर भिन-भिनाती फिरने वाली पीली मक्खियां हम लोगों पर टूट पड़ीं। बुरी तरह चिपट गई, छुड़ाये से भी न छूटतीं थीं। हाथों से कपड़ों से उन्हें हटाया भी, भागे भी, पर उन्होंने बहुत देर तक पीछा किया। किसी प्रकार गिरते पड़ते लगभग आधा मील आगे निकल गये तब उनसे पीछा छूटा। उनके जहरीले डंक जहां लगे थे वहां सूजन आ गई। दर्द भी होता रहा।

सोचता हूं इन मक्खियों को इस प्रकार आक्रमण करने की क्यों सूझी? क्या इनको इसमें कुछ मिल गया है, हमें सताकर इनने क्या पाया? लगता है यह मक्खियां सोचती होंगी कि यह वन प्रदेश हमारा है, हमें यहां रहना चाहिये, हमारे लिए ही यह सुरक्षित प्रदेश रहे, कोई दूसरा इधर पदार्पण न करे। उनकी अपनी भावना के विपरीत हमें उधर से गुजरते देखा तो समझा होगा कि यह हमारे प्रदेश से हस्तक्षेप करते हैं, हमारे अधिकार क्षेत्र में अपना अधिकार चलाते हैं। हमारे उधर से गुजरने को सम्भव है उनने ढीठता समझा हो और अपने बल एवं दर्प का प्रदर्शन करने एवं हस्तक्षेप का मजा चखाने के लिए आक्रमण किया होगा।

यदि ऐसी ही बात है तो इन मक्खियों की मूर्खता थी । वह वन तो ईश्वर का बनाया हुआ था, कुछ उनने स्वयं थोड़े ही बनाया था। उन्हें तो पेड़ों पर रहकर अपनी गुजर बसर करनी चाहिए थी। सारे प्रदेश पर कब्जा करने की उनकी लालसा व्यर्थ थी। क्योंकि वे इतने बड़े प्रदेश का आखिर करती क्या? फिर उन्हें सोचना चाहिए था कि यह साझे की दुनिया है, सभी लोग इसका मिल-जुलकर उपयोग करें तो ही ठीक है। यदि हम लोग उधर से निकल रहे थे, उस वन श्री की छाया, शोभा और सुगन्ध का लाभ उठा रहे थे तो थोड़ा हमें भी उठा लेने देने की सहिष्णुता रखती। उनने अनुदारता करके हमें काटा, सताया, अपने डंक खोये कोई-कोई तो इस झंझट में कुचल भी गईं, घायल हुईं और मर भी गईं। वे क्रोध और गर्व न दिखाती तो क्यों उन्हें व्यर्थ यह हानि उठानी पड़ती और क्यों हम सब की दृष्टि में मूर्ख और स्वार्थी सिद्ध होतीं। हर दृष्टि से इस आक्रमण और अधिकार लिप्त ये मुझे कोई बुद्धिमानी दिखाई न दी। यह पीली मक्खियां सचमुच ही ठीक शब्द था।

पर उस बेचारी मक्खियों को ही क्यों कोसा जाय? उन्हीं को मूर्ख क्यों कहा जाय? जबकि आज हम मनुष्य भी इसी रास्ते पर चल रहे हैं। इस सृष्टि में जो विपुल उपभोग सामग्री परमात्मा ने पैदा की है वह उसके सभी पुत्रों के लिए, मिल बांटकर खाने और लाभ उठाने के लिये है। पर हममें से कोई जितना हड़प सके उतने पर कब्जा जमाने के लिए उतावला हो रहा है। यह भी नहीं सोचा जाता कि शरीर की कुटुम्ब की आवश्यकता थोड़े ही है उतने तक ही सीमित रहें, आवश्यकता से अधिक वस्तुओं पर कब्जा जमा कर दूसरों को क्यों कठिनाई में डालें और क्यों मालिकी का व्यर्थ बोझ सिर पर लादें। जबकि उस मालिकी को देर तक अपने कब्जे में रख भी नहीं सकते।

पीली मक्खियों की तरह ही मनुष्य भी अधिकार लिप्सा में, स्वार्थ और संग्रह में अंधा हो रहा है। मिल बांटकर खाने की नीति उसकी समझ में ही नहीं आती। जो कोई उसे अपने स्वार्थ में बाधक होते दीखता है उसी पर आंखों दिखाता है अपनी शक्ति प्रदर्शन करता है और पीली मक्खियों की तरह टूट पड़ता है। इससे उनके इस व्यवहार से कितना कष्ट होता है इसकी चिन्ता किसे है।

पीली मक्खियां नन्हे-नन्हे डंक मारकर, आधा मील पीछा करके वापिस लौट गईं। पर मनुष्य की अधिकार लिप्सा, स्वार्थपरता और अहंकार से उद्धत होकर किये जाने वाले आक्रमणों की भयंकरता को जब सोचता हूं तो बेचारी पीली मक्खियों को ही बुरा-भला कहने में जीभ सकुचाने लगती हैं।

ठण्डे पहाड़ के गरम सोते

कई दिन में शरीर को सुन्न कर देने वाले बर्फीले ठंडे पानी से स्नान करते आ रहे थे। किसी प्रकार हिम्मत बांधकर एक-दो डुबकी तो लगा लेते थे पर जाड़े के मारे शरीर को ठीक तरह रगड़ना और उस तरह स्नान करना नहीं बन पड़ रहा था जैसा देह की सफाई की दृष्टि से आवश्यक है। आज जगनानी चट्टी पर पहुंचे तो पहाड़ के ऊपर वाले तीन तप्त कुण्डों का पता चला जहां से गरम पानी निकलता है। ऐसा सुयोग पाकर मल-मलकर स्नान करने की इच्छा प्रबल हो गई। गंगा का पुल पार कर ऊंची चढ़ाई की टेकरी को कई जगह बैठ-बैठ कर हांफते-हांफते पार किया और तप्त कुण्डों पर जा पहुंचे बराबर-बराबर तीन कुण्ड थे। एक का पानी इतना गरम था कि उससे नहाना तो दूर हाथ दें सकना भी कठिन था। बताया गया कि यदि चावल दाल की पोटली बांधकर इस कुण्ड में डाल दी जाय तो वह खिचड़ी कुछ देर में पक जाती है। यह प्रयोग तो हम न कर सके पर पास वाले दूसरे कुण्ड में जिसका पानी सादा गरम था। खूब मल-मलकर स्नान किया और हफ्तों की अधूरी आकांक्षा पूरी की। कपड़े भी गरम पानी से खूब धुले, अच्छे साफ हुए।

सोचता हूं कि जिन पहाड़ों पर बर्फ गिरती रहती है और छाती में से झरने वाले झरने सदा बर्फ से ठंडा जल प्रवाहित ही करते रहते हैं उनमें कहीं ऐसे उष्ण सोते क्यों फूट पड़ते हैं? मालूम होता है कि पर्वत के भीतर कोई गन्धक की पर्त है वही अपने समीप से गुजरने वाली जल-धारा को असह्य को उष्णता दें देती है। इसी तरह किसी सज्जन में अनेक शीतल दायक गुण होने से उसके व्यवहार ठण्डे सोतों की तरह शीतल हो सकते हैं पर यदि दुर्बुद्धि की एक भी परत छिपी हो तो उसकी गर्मी गरम सोतों की तरह बाहर फूट पड़ती है और वह छिपती नहीं।

जो पर्वत अपने शीतलता को अक्षुण्ण बनाये रहना चाहते हैं उन्हें इस प्रकार की गन्धक जैसी विषैली पर्तों को बाहर निकाल फेंकना चाहिए। यह एक दूसरा कारण इन तप्त कुण्डों का और भी हो सकता है कि शीतल पर्वत अपनी भीतर के इस विकार को निकाल-निकाल कर बाहर फेंक रहा हो और अपनी दुर्बलता को छिपाने की अपेक्षा सबके सामने प्रकट कर रहा हो जिससे उसे कपटी और ढोंगी न कहा जा सके। दुर्गुणों का होना बुरी बात है पर उन्हें छिपाना उससे भी बुरा है। इस तथ्य को यह पर्वत जानते हैं यदि मनुष्य भी इसे जान लेता तो कितना अच्छा होता।

यह भी समझ में आता है कि हमारे जैसे ठंडे स्नान से खिन्न व्यक्तियों को गरम जल से स्नान कराने की सुविधा और आवश्यकता को ध्यान रखते हुए पर्वत ने अपने बहुत भीतर बची थोड़ी सी गर्मी को बाहर निकला कर रख दिया हो। बाहर से तो वह भी ठंडा हो चला है फिर भी भीतर कुछ गर्मी बच गई होगी। पर्वत सोचता होगा जब सारा ही ठंडा हो चला तो इस थोड़ी सी गर्मी को बचाकर ही क्या करूंगा इसे भी क्यों न जरूरत मदों को दें डालूं। उस आत्मदानी पर्वत की तरह कोई व्यक्ति भी ऐसे हो सकते हैं जो स्वयं अभाव ग्रस्त कष्ट साध्य जीवन व्यतीत करते हों और इतने पर भी जो शक्ति बनी हो उसे भी जनहित में लगाकर इस तप्त कुण्डों का आदर्श उपस्थित करें। इस शीत प्रदेश का वह तृप्त कुण्ड भुलाये नहीं भूलेगा। मेरे जैसे हजारों यात्री उसका गुण गान करते रहेंगे क्योंकि उसमें त्याग भी तो असाधारण है। स्वयं ठंडा रह कर दूसरों के लिए गर्मी प्रदान करना, भूखे रहकर दूसरों को रोटी जुटाने के समान है। सोचता हूं बुद्धि हीन जड़ पर्वत जब इतना कर सकता है तो क्या बुद्धिमान बनने वाले मनुष्य को केवल स्वार्थी ही रहना चाहिए?

आलू का भालू

आज गंगोत्री यात्रियों को एक दल का और भी साथ मिल गया। उस दल में सात आदमी थे। पांच पुरुष दो स्त्रियां। हमारा बोझा तो हमारे कंधे पर था पर उन सातों का बिस्तर एक पहाड़ी कुली लिये चल रहा था कुली देहाती था, उसकी भाषा भी ठीक तरह समझ में नहीं आती थी, स्वभाव का भी अक्खड़ और झगड़ालू जैसा था। झाला-चट्टी की ओर ऊपरी पठार पर जब हम लोग चल रहे थे तो उंगली का इशारा करके उसने कुछ विचित्र डरावनी सी मुद्रा के साथ कोई चीज दिखाई और अपनी भाषा में कुछ कहा। सब बात तो समझ में न आई पर दल के एक आदमी ने इतना ही समझा भालू-भालू। वह गौर से उस ओर देखने लगा। घना कुहरा उस समय पड़ रहा था कोई चीज ठीक दिखाई नहीं पड़ती थी पर जिधर कुली ने इशारा किया था उधर काले-काले जानवर उसे घूमते नजर आये।

जिस साथी ने कुली के मुंह से भालू-भालू सुना था और उसके इशारे की दिशा में काले-काले जानवर घूमते दीखे थे, वह बहुत डर गया। उसने पूरे विश्वास के साथ यह समझ लिया कि नीचे भालू रीछ घूम रहे हैं। वह पीछे था, पैर दाव कर जल्दी-जल्दी आगे लपका कि वह भी हम सबके साथ मिल जाय। कुछ ही देर में वह हमारे साथ आ गया। होंठ सूख रहे थे और भय से कांप रहा था। उसने हम सबको रोका और नीचे काले जानकर दिखाते हुए बताया कि भालू घूम रहे हैं। अब यहां जान का खतरा है।

डर तो हम सभी गये पर यह न सूझ पड़ रहा था कि किया क्या जाय? जंगल काफी घना था, डरावना भी। उसमें रीछ के होने की बात असम्भव भी नहीं थी। फिर हमने पहाड़ी रीछों की भयंकरता के बारे में भी कुछ बढ़ी-चढ़ी बातें परसों ही साथी यात्रियों से सुनी थी जो दो वर्ष पूर्व मानसरोवर गये थे। डर बढ़ रहा था, काले जानवर हमारी ओर आ रहे थे। घने कुहरे के कारण शक्ल तो साफ नहीं दीख रही थी पर रंग के काले और कद में बिलकुल रीछ जैसे थे, फिर कुली ने इशारे से भालू होने की बात बता ही दी है अब सन्देह की कोई बात नहीं थी। सोचा, कुली से ही पूछें कि अब क्या करना चाहिये। पीछे मुड़कर देखा तो कुली ही गायब था। कल्पना की दौड़ने एक ही अनुमान लगाया कि वह जान का खतरा देख कर कहीं छिप गया है या किसी पेड़ पर चढ़ गया है। हम लोगों ने अपने भाग्य के साथ अपने को बिलकुल अकेला असहाय पाया।

हम सब एक जगह बिलकुल नजदीक इकट्ठे हो गये। दो-दो ने चारों ओर दिशाओं की ओर मुंह कर लिये। लोहे की कील गढ़ी हुई लाठियां जिन्हें लेकर चल रहे थे, बन्दूकों की भांति सामने तान लीं और तय कर लिया कि जिस पर रीछ हमला करे वह उसके मुंह में कील गढ़ी लाठी ठूंस दें और साथ ही सब लोग उस पर हमला करदें कोई भागे नहीं। अन्त तक सब साथ रहें चाहे जियें चाहे मरें। योजना के साथ सब लोग धीरे-धीरे आगे बढ़ने लगे। रीछ जो पहले हमारी ओर आते दिखाई दें रहे थे, नीचे की ओर उतरने लगे। हम लोगों ने चलने की रफ्तार काफी तेज कर दी, दूनी से भी अधिक। जितनी जल्दी हो सके खतरे को पार कर लेने की ही सब की इच्छा थी। ईश्वर का नाम सब की जीभ पर था। मन में भय बुरी तरह समा रहा था। इस प्रकार एक डेढ़ मील का रास्ता पार किया।

कुहरा कुछ कम हुआ, आठ बज रहे थे। सूर्य का प्रकाश भी दीखने लगा। घनी वृक्षावली भी पीछे रह गई, भेड़-बकरी चराने वाले भी सामने दिखाई दिये। हम लोगों ने सन्तोष की सांस ली, अपने को खतरे से बाहर अनुभव किया और सुस्ताने के लिए बैठ गये। इतने में कुली भी पीछे से आ पहुंचा। हम लोगों को वह घबराया हुआ देख कर भी कारण पूछने लगा। साथियों ने कहा—'तुम्हारे बताये हुए भालुओं से भगवान ने जान बचा दी। पर तुमने अच्छा धोखा दिया, बजाय उपाय बताने के तुम खुद छिप रहे।'

कुली सकपकाया, उसने समझा उन्हें कुछ भ्रम हो गया। हम लोगों ने उसके इशारे से भालू बताने की बात दुहराई तो वह सब बात समझ गया कि हम लोगों को क्या गलत फहमी हुई है। उसने कहा—'झाला गांव का आलू मशहूर। बहुत बड़ा-बड़ा पैदा होता है, ऐसी फसल इधर किसी गांव में नहीं होती वही बात मैंने उंगली के इशारे से बताई थी। 'झाला का आलू कहा था आपने उसे भालू समझा। वह काले जानवर तो यहां की काली गायें हैं जो दिन भर इसी तरह चरती फिरती हैं। कुहरे के कारण ही वे रीछ जैसी आपको दीखीं। यहां भालू कहां होते हैं, वे तो और ऊपर पाये जाते हैं आप व्यर्थ ही डरे। मैं तो टट्टी करने के लिए छोटे झरने के पास बैठ गया था। साथ होता तो आपका भ्रम उसी समय दूर कर देता।

हम लोग अपनी मूर्खता पर हंसे भी और शर्मिन्दा भी हुए। विशेषतया उस साथी को जिसने कुली की बात को गलत तरह समझा खूब लताड़ा गया। भय मजाक में बदल गया। दिन भर उस बात की चर्चा रही, उस डर के समय में जिस-जिस ने जो-जो कहा था और किया था, उसे चर्चा का विषय बना कर सारे दिन आपस की छींटाकशी चुहल बाजी होती रही, सब एक दूसरे को अधिक डरा हुआ परेशान सिद्ध करने में रस लेते रहे। मंजिल आसानी से कट गई, मनोरंजन का अच्छा विषय रहा।

भालू की बात जो घंटे भर बिलकुल सत्य और जीवन-मरण की समस्या मालूम पड़ती रही, अन्त में एक भ्रान्ति मात्र सिद्ध हुई। सोचता हूं कि हमारे जीवन में ऐसी अनेकों भ्रान्तियां घर किये हुए हैं और उनके कारण हम निरन्तर डरते रहते हैं पर अन्ततः वे मानसिक दुर्बलता मात्र साबित होती हैं। हमारे ठाट बाट, फैशन और लावाज में कमी आ गई तो लोग हमें गरीब और मामूली समझेंगे, इस अपडर से अनेकों लोग अपने इतने खर्चे बढ़ाये रहते हैं जिनको पूरा करने के लिए कठिन पड़ता है। 'लोग क्या कहेंगे' यह बात चरित्र पतन के समय याद आवे तो ठीक भी है पर यदि वह दिखावे में कमी के समय मन में आवे तो यही मानना पड़ेगा कि वह अपडर मात्र है। खर्चीला भी और व्यर्थ भी। सादगी से रहेंगे तो गरीब समझे जायेंगे, कोई हमारी इज्जत न करेगा यह भ्रम दुर्बल मस्तिष्कों में ही उत्पन्न होता है जैसा कि हम लोगों को एक छोटी सी न समझी के कारण भालू का हुआ था।

अनेकों चिन्ताएं परेशानियां, दुविधाएं, उत्तेजनाएं, वासनाएं तथा दुर्भावनाएं आये दिन सामने खड़ी रहती हैं, लगता है यह संसार बड़ा दुष्ट और डरावना है, यहां की हर वस्तु भालू की तरह डरावनी है। पर जब आत्म-ज्ञान का प्रकाश होता है, अज्ञान का कुहरा फटता है, मानसिक दौर्बल्य घटता है तो प्रतीत होता है कि जिसे हम भालू समझते थे वह तो पहाड़ी गाय थी। जिन्हें हम शत्रु मानते हैं वे तो हमारे अपने ही स्वरूप हैं, ईश्वर के अंश मात्र हैं। ईश्वर हमारा प्रिय पात्र है तो उसकी रचना भी मंगल-मय ही होनी चाहिये। उसे जितने विकृत रूप में हम चित्रित करते उतना ही उससे डर लगता है। यह अशुद्ध चित्रण हमारी मानसिक भ्रान्ति है वैसी ही जैसी कि कुली के शब्द आलू को भालू समझकर उत्पन्न करली गई थी।

रोते पहाड़

आज रास्ते में 'रोते पहाड़' मिले। उनके पत्थर नरम थे। ऊपर किसी सोते का पानी रुका पड़ा था। पानी को निकलने के लिए जगह न मिली। नरम पत्थर उसे चूसने लगे। वह चूसा हुआ पानी जाता कहां? नीचे की ओर वह पहाड़ को गीला किए हुए था, जहां जगह थी वहां वह गीलापन धीरे-धीरे इकट्ठा होकर बूंदों के रूप में टपक रहा था। इस टपकती बूंदों का लोग अपनी भावना के अनुसार 'आंसू की बूंदें' कहते हैं। जहां तहां से मिट्टी उड़कर इस गीलेपन से चिपक जाती है उसमें हरियाली के जीवाणु भी आ जाते हैं। इस चिपकी हुई मिट्टी पर एक हरी मुलायम काई जैसी उग आती है। इस काई को पहाड़ में 'कीचड़' कहते हैं। जब वह रोता ही है तो आंखें दुखती ही होंगी और कीचड़ निकलती होगी। यह कल्पना कर लेना कौन कठिन बात है। रोते हुए पहाड़ आज हम लोगों ने देखे। उनके

आंसू भी कहीं से पोंछे। कीचड़ों को टटोल कर देखा। बस इतना ही कर सकते थे। पहाड़ तू क्यों रोता है? इसे कौन पूछता? और क्यों वह इसका उत्तर देता?

पर कल्पना तो अपनी जिद की पक्की है, मन ही मन पर्वत से बातें करने लगी। पर्वत राज! तुम इतनी बन श्री से लदे हो, भागदौड़ की कोई चिन्ता भी तुम्हें नहीं है, बैठे-बैठे आनन्द के दिन गुजारते हो, तुम्हें किस बात की चिन्ता? तुम्हें रुलाई क्यों आती है?

पत्थर का पहाड़ चुप खड़ा था पर कल्पना पर्वत अपनी मनोव्यथा कहने ही लगा। बोला—मेरे दिल का दर्द तुम्हें क्या मालूम। मैं बड़ा हूं, ऊंचा हूं, वन श्री से लदा हूं, निश्चिन्त बैठा रहता हूं, देखने को मेरे पास सब कुछ है, पर निष्क्रिय, निःचेष्ट जीवन भी क्या कोई जीवन है। जिसमें गति नहीं संघर्ष नहीं, आशा नहीं, स्फूर्ति नहीं, प्रयत्न नहीं, पुरुषार्थ नहीं, वह जीवित होते हुए भी मृतक समान है। सक्रियता में ही आनन्द है। मौज की छानने और आराम करने में तो केवल काहिली की मुर्दनी की नीरवता मात्र है, इसे अनजान ही आराम और आनन्द कह सकते हैं। इस सृष्टि के क्रीड़ांगन में जो जितना खेल लेता है वह अपने को उतना ही तरोताजा और प्रफुल्लित अनुभव करता है। सृष्टि के सभी पुत्र प्रगति के पथ पर उल्लास भरे सैनिकों की तरह कदम पर कदम बढ़ाते, मोर्चे पर मोर्चा पार करते चले जाते हैं, दूसरी ओर मैं हूं जो संपदाएं अपने पेट में छिपाये मौज की छान रहा हूं। कल्पना बेटी, तुम मुझे सेठ कह सकती हो, अमीर कह सकती हो, भाग्यवान कह सकती हो, पर हूं तो मैं निष्क्रिय ही। संसार की सेवा में अपने पुरुषार्थ का परिचय देकर लोग अपना नाम इतिहास में अमर कर रहे हैं, कीर्तिवान बन रहे हैं, अपने प्रयत्न कर फल दूसरों को उठाते देखकर गर्व अनुभव कर रहे हैं। पर एक मैं हूं जो अपना वैभव अपने तक ही समेटे बैठा हूं। इस आत्मग्लानि से यदि मुझे रुलाई आती है, आंखों में आंसू बरसते हैं और कीचड़ निकलते हैं तो उसमें अनुचित ही क्या है?

मेरी नन्हीं सी कल्पना ने, पर्वत राज से बातें करलीं, समाधान भी पा लिया, पर वह भी खिन्न ही थी। बहुत देर तक यही सोचती रही, कैसा अच्छा होता यदि इतना बड़ा पर्वत अपने टुकड़े-टुकड़े करके अनेकों भवनों, सड़कों, पुलों के बनाने में खप सका होता। तब भले ही वह इतना बड़ा न रहता, संभव है इस प्रयत्न से उसका अस्तित्व भी समाप्त हो जाता लेकिन तब वह वस्तुतः धन्य हुआ होता वस्तुतः उसका बड़प्पन सार्थक हुआ होता। इन परिस्थितियों से वंचित रहने पर यदि पर्वतराज अपने को अभागा मानता है और अपने दुर्भाग्य को धिक्कारता हुआ सिर धुनकर रोता है तो उसका यह रोना सकारण ही है।

लदी हुई बकरियां

छोटा सा जानवर 'बकरी' इस पर्वतीय प्रदेश की तरण-तारिणी कामधेनु कही जा सकती हैं। वह दूध देती है, ऊन देती है, बच्चे देती है, साथ ही वजन भी ढोती है। आज बड़े-बड़े बालों वाली बकरियों का एक झुण्ड रास्ते में मिला, लगभग सौ सवा सौ होंगी। सभी लदी हुई थीं। गुड़, चावल, आटा लादकर वे गंगोत्री की ओर ले जा रही थीं, हर एक पर उसके कद और बल के अनुसार दस पन्द्रह सेर वजन लदा हुआ था। माल असवाव की ढुलाई के लिए खच्चरों के अतिरिक्त इधर बकरियां ही साधन हैं। पहाड़ों की छोटी छोटी पगडंडियों पर दूसरे जानवर या वाहन काम तो नहीं कर सकते।

सोचता हूं कि जीवन की समस्याएं हल करने के लिए बड़े-बड़े विशाल साधनों पर जोर देने की कोई इतनी बड़ी आवश्यकता नहीं है जितनी कि समझी जाती है। जबकि व्यक्ति साधारण उपकरणों से अपने निर्वाह के साधन जुटाकर शान्ति पूर्वक रह सकता है। सीमित उद्योगीकरण की बात दूसरी है पर यदि वे बढ़ते ही रहे तो इन बकरियों तथा उनके पालने वाले जैसे लाखों की रोजी

रोटी छीनकर चंद उद्योग-पतियों की कोठियों में जमा हो सकती है। संसार में युद्ध की जो घटाएं आज उमड़ रही हैं उसके मूल में भी इस उद्योग व्यवस्था के लिये मारकेट जुटाने, उपनिवेश बनाने की लालसा ही काम कर रही है।

बकरियों की पंक्ति देखकर मेरे मन में यह भाव उत्पन्न हो रहा है कि व्यक्ति यदि छोटी सीमा में रहकर जीवन विकास की व्यवस्था जुटावें तो इसी प्रकार शान्ति पूर्वक रह सकता है जिस प्रकार यह बकरियों वाले भले और भोले पहाड़ी रहते हैं। प्राचीनकाल में धन और सत्ता का विकेन्द्रीकरण करना ही भारतीय समाज का आदर्श था। ऋषि-मुनि एक बहुत छोटी इकाई के रूप में आश्रमों और कुटियों में जीवन यापन करते थे। ग्राम उससे कुछ बड़ी इकाई थे। सभी अपनी आवश्यकताएं अपने क्षेत्र में अपने समाज से पूरा करते थे और हिल-मिलकर सुखी जीवन बिताते थे, न उसमें भ्रष्टाचार की गुंजाइश थी न बदमाशी की। आज उद्योगीकरण की घुड़दौड़ में छोटे गांव उजड़ रहे हैं बड़े शहर बस रहे हैं, गरीब पिस रहे हैं, अमीर पनप रहे हैं। विकराल राक्षस की तरह धड़धड़ाती हुई मशीनें मनुष्य के स्वास्थ्य को, स्नेह सम्बन्धों को सदाचार को भी पीसे डाल रही हैं। इस यंत्रवाद, उद्योगवाद, पूंजीवाद की नींव पर जो कुछ खड़ा किया जा रहा है उसका नाम विकास रखा गया है पर यह अन्ततः विनाश ही सिद्ध होगा।

विचार असम्बद्ध होते जा रहे हैं। छोटी बात मस्तिष्क में बड़ा रूप धारण कर रही है, इसलिए इन पंक्तियों को यहीं समाप्त करना उचित है। फिर भी बकरियां भुलाये नहीं भूलतीं। वे हमारे प्राचीन भारतीय समाज रचना की एक स्मृति को ताजा करती हैं, इस सभ्यतावाद के युग में उन बेचारियों की उपयोगिता कौन मानेगा, पिछड़े युग की निशानी कह कर उनका उपहास ही होगा। पर सत्य सत्य ही रहेगा मानव जाति जब कभी शान्ति और सन्तोष के लक्ष पर पहुंचेगी तब धन और सत्ता का विकेन्द्रीकरण अवश्य हो रहा होगा और लोग इसी तरह श्रम और सन्तोष से परिपूर्ण जीवन बिता रहे होंगे जैसे बकरी वाले अपनी मैं-मैं करती हुई बकरियों के साथ बिताते हैं।

____***____

प्रकृति का रुद्राभिषेक

****

आज भोजवासा चट्टी पर आ पहुंचे। कल प्रातः गोमुख के लिए रवाना होना है। यहां यातायात नहीं है उत्तरकाशी और गंगोत्री के रास्ते में यात्री मिलते हैं, चट्टियों पर ठहरने वालों की भीड़ भी मिलती है पर यहां वैसा कुछ नहीं। आज कुल मिलाकर हम छह यात्री हैं। भोजन अपना अपना सभी साथ लाये हैं, यों कहने को तो भौजवासा की चट्टी है, यहां धर्मशाला भी है पर नीचे की चट्टियों जैसी सुविधा यहां कहां है?

सामने वाले पर्वत पर दृष्टि डाली तो ऐसा लगा मानों हिमगिरि स्वयं अपने हाथों भगवान् शंकर के ऊपर जल का अभिषेक करता हुआ पूजा कर रहा हो। दृश्य बड़ा ही अलौकिक था। बहुत ऊपर से एक पतली सी जलधारा नीचे गिर रही थी। नीचे प्रकृति के निर्मित बड़े शिवलिंग थे, धारा उन्हीं पर गिर रही थी। गिरते समय वह धारा छींटे छींटे हो जाती थीं। सूर्य की किरण उन छींटों पर पड़कर उन्हें सात रंगों के इन्द्रधनुष जैसे बना देती थी। लगता था साक्षात् शिव विराजमान है उनके शीश पर आकाश से गंगा गिर रही है और देवता सप्त रंग के पुष्पों की वर्षा कर रहे हैं। दृश्य इतना मोहक था कि देखते- देखते मन नहीं अघाता था। उस अलौकिक दृश्य को तब तक वैसा देखता ही रहा जब तक अन्धेरे ने पटाक्षेप नहीं कर दिया।

सौंदर्य आत्मा की एक प्यास है पर वह कृत्रिमता की कीचड़ में उपलब्ध होना कहां सम्भव है? इन वन पर्वतों के चित्र बनाकर लोग अपने घरों में टांगते हैं और उसी से सन्तोष कर लेते हैं पर प्रकृति की गोदी में जो सौंदर्य का निर्झर बह रहा है उसकी ओर कोई आंख उठाकर भी नहीं देखता। यों इस सारे ही रास्ते में सौंदर्य बिखरा पड़ा था, हिमालय को सौंदर्य का सागर कहते हैं, उसमें स्नान करने से आत्मा में अन्त-प्रदेश में एक सिहरन सी उठती है। जी करता है इस अनन्य सौंदर्य राशि में अपने आप को खो क्यों न दिया जाय?

आज का दृश्य यों प्रकृति का एक चमत्कार ही था, पर अपनी भावना उसमें एक दिव्य झांकी का आनन्द ही लेती रही, मानो साक्षात् शिव के ही दर्शन हुए हों। इस आनन्द की अनुभूति में आज अन्तःकरण गदगद हुआ जा रहा है। काश, इस रसास्वादन को एक अंश में लिख सकना मेरे लिए सम्भव हुआ होता तो जो यहां नहीं हैं वे भी कितना सुख पाते और अपने भाग्य को सराहते।

मील का पत्थर

आज फिर वही कठिनाई सामने आ गई जो उत्तरकाशी से चलते हुए आरम्भिक दो दिनों में आई थी। भटवाड़ी चट्टी तक रास्ते को चौड़ा करने और सुधारने का काम चल रहा था इसलिए मील के पत्थर उन दो दिनों में नहीं मिले। रास्ते में कड़ी चढ़ाई-उतराई और कठिन मंजिल थोड़ी ही देर में थका देती थी। घने जंगलों का प्राकृतिक सौंदर्य था तो बहुत भला, पर रोज रोज वही—चौबीसों घन्टे वही देखते रहने से आरम्भ में जो आकर्षण था वह घट ही रहा था। सुनसान में अकेली यात्रा भी अखरने ही वाली थी-जब कोलाहल में व्यस्त जीवन बिताने के लिए नीरव एकान्त भी कष्ट दायक होता है। यह सूनापन और कठोर श्रम जब शरीर और मन को थकाने लगता तो एक ही जिज्ञासा उठती—आज कितनी मंजिल पार करली? कितनी अभी और शेष है?

थोड़ी-थोड़ी दूर चलकर सामने से आने वाले से पूछते अब अगली चट्टी कितनी दूर है? उसी से अन्दाज लगाते कि आज अभी कितना और चलना है। कुछ रास्तागीर घमंडी होते, जानकर भी उपेक्षा करते न बताते, कुछ को मालूम ही न था, कुछ अन्दाज

से बताते तो उसमें मीलों का अन्तर होता, इससे यह भी आशा कम ही रहती थी कि पूछने पर भी समाधान कारक उत्तर मिल ही जायगा। यह एक बड़ी कमी थी, खास तौर से अकेले चलने वाले के लिये। सात-पांच की भीड़ में हंसते बोलते आसानी से मंजिल कट जाती है पर अकेले के लिए तो उसे काटना काफी कठिन होता है। इस कठिनाई से मील के पत्थर कितना काम देते हैं इसका अनुभव भटवाड़ी चट्टी से लेकर गंगोत्री तक की यात्रा में किया। इस बीच में मील तो नहीं गढ़े थे पर पहाड़ों की दीवार पर सफेदी पोत कर लाल अक्षरों से $25/7$ इस प्रकार के संकेत जहां तहां लिख दिये थे। इसका अर्थ था धरासूं से पच्चीस मील सात फर्लांग आ गये। पिछली चट्टी पर कौन सा मील था, अगली चट्टी पर कौन-सा मील पड़ेगा यह जानकारी नक्शे के आधार पर थी ही मंजिल का पता चलता रहता। इस सुनसान में यह मील फर्लांग के अक्षर बड़े सहायक थे, इन्हीं के सहारे रास्ता काटता था। एक फर्लांग गुजरने पर दूसरे की आशा लगती और वह आ जाती तो सन्तोष होता कि इतनी सफलता मिली अब इतना ही शेष रह गया?

आज फिर गंगोत्री से गोमुख के रास्ते में मील फर्लांग नहीं हैं तो फिर वैसी ही असुविधा हुई जैसी उत्तरकाशी से चलते समय आरम्भिक दो दिनों में हुई थी। यह गंगोत्री से गोमुख का 18 मील का रास्ता बड़ी मुश्किल से कटा, एक तो यह था भी बड़ा दुर्भाग्य फिर उस पर भी मील फर्लांग जैसे साथी और मार्ग दर्शकों आ अभाव आज यह पंक्तियां लिखते समय यह परेशानी कुछ ज्यादा अखर रही है।

सोचता हूं मील का पत्थर अपने आप में कितना तुच्छ है। उसकी कीमत, योग्यता, सामर्थ्य, विद्या, बुद्धि सभी उपहासास्पद है। पर यह अपने एक निश्चित और नियत कर्त्तव्य को लेकर यथा स्थान जम गया है। हटने की सोचता तक नहीं। उसे एक छोटी सी बात मालूम है धरासूं इतने मील इतने फर्लांग है। बस, केवल इतने से ज्ञान को लेकर वह जन सेवा के पथ पर अड़ गया है उस पत्थर के टुकड़े की, नगण्य और तुच्छ की—यह निष्ठा अन्ततः कितनी उपयोगी सिद्ध हो रही है। मुझ जैसे अगणित पथिक उससे मार्ग दर्शन पाते हैं और अपनी परेशानी का समाधान करते हैं।

जब यह जरा सा पत्थर का टुकड़ा मार्ग दर्शन कर सकता है, जब मिट्टी का जरा सा एक दो पैसे मूल्य का दीपक प्रकाश देकर रात्रि के खतरों से दूसरों की जीवन रक्षा कर सकता है, तो क्या सेवाभावी मनुष्य को इसलिये चुप ही बैठना चाहिये कि उसकी विद्या कम है, बुद्धि कम, सामर्थ्य कम है, योग्यता कम है? कमी हर किसी में है। पर हममें से प्रत्येक अपने क्षेत्र में—अपने से कम जानकारी में, कम स्थिति के लोगों में बहुत कुछ कर सकता है। 'अमुक योग्यता मिलती तो अमुक कार्य करता' ऐसी शेखचिल्ली कल्पनाएं करते रहने की अपेक्षा क्या यह उचित नहीं कि अपनी जो योग्यता है उसी को लेकर अपने से पिछड़े हुए लोगों को आगे बढ़ाने का मार्ग दर्शन का काम कर दें। मील का पत्थर सिर्फ धतासूं और गंगोत्री का अन्तर मात्र जानता है, उतना ही बता सकता है पर उसकी उतनी सेवा भी क्या कम महत्व की है। उसके अभाव में उत्तरकाशी से भटवाड़ी तक परेशानी रही और कल गौमुख दर्शन का जो सौभाग्य मिलने वाला है उसकी सुखद कल्पना में उन पत्थरों का अभाव बुरी तरह खटक रहा है।

हममें से कितने ऐसे हैं जो मील के पत्थरों से अधिक जन सेवा कर सकते हैं। पर आत्मविश्वास, निष्ठा और जो कुछ है उसी को लेकर अपने उपयुक्त क्षेत्र में अड़ जाने की निष्ठा हो तभी तो हमारी उपयोगिता को सार्थकता होने का अवसर मिले।

अपने और पराये

लगातार की यात्रा ने पैरों में छाले डाल दिये। आज ध्यान पूर्वक पैरों को देखा तो दोनों पैरों में कुल मिलाकर छोटे-बड़े दस छाले निकले। कपड़े का नया जूता इसलिये पहना था कि कठिन रास्ते में मदद देगा पर भले मानस ने भी दो जगह काट खाया। इन

छाले और जख्मों में से जो कच्चे थे वे सफेद और जिनमें पानी पड़ गया यहां वे पीले हो गये हैं। चलने में दर्द करते हैं और दुखते हैं। लगता है पैर अपने सफेद पीले दांत निकाल कर चलने में लाचारी प्रकट कर रहे हैं।

मंजिल दूर है। गुरु पूर्णिमा तक हर हालत में नियत स्थान पर पहुंचना है। पर अभी से दांत दिखाएंगे तो कैसे बनेगी? लंगड़ा लंगड़ा कर कल तो किसी प्रकार चल लिया गया, पर आज मुश्किल मालूम पड़ती है। दो तीन छाले जो फूट गये, जख्म बनते जा रहे हैं। बढ़ गये तो चलना कठिन हो जायगा और न चला जा सका तो नियत समय पर लक्ष्य तक पहुंचना कैसे सम्भव होगा? इस चिन्ता ने आज दिन भर परेशान रखा।

नंगे पैर चलना और भी कठिन है। रास्ते भर ऐसी पथरीली कंकड़ियां बिछी हुई हैं कि वे जहां पैर में गढ़ जाती हैं कांटे की तरह दर्द करती हैं। एक उपाय करना पड़ा। आधी धोती फाड़ कर दो टुकड़े किये गये और उन्हें पैरों से बांध दिया गया। जूते उतार कर थैले में रख लिये। काम चल गया। धीरे-धीरे रास्ता कटने लगा।

एक ओर तो यह अपने पैर हैं जो आड़े वक्त में दांत दिखाने लगे दूसरी ओर यह बांस की लाठी है, जो बेचारी न जाने कहां जन्मी, कहां बड़ी हुई और कहां से साथ हो ली। यह सगे भाई जैसा काम दे रही है। जहां चढ़ाई आती है तीसरे पैर का काम करती है। जैसे बूढ़े बीमार को कोई सहृदय कुटुम्बी अपने कन्धे का सहारा देकर आगे ले चलता है वैसे ही थकान से जब शरीर चूर चूर होता है तब यह लाठी सगे सम्बन्धी जैसा ही सहारा देती है।

गंगानानी चट्टी से आगे जहां वर्षा के कारण बुरी तरह फिसलन हो रही थी। एक ओर पहाड़ दूसरी ओर गंगा का तंग रास्ता—उस कठिन समय में इस लाठी ने ही कदम कदम पर जीवन मृत्यु की पहेली को सुलझाया। उसने भी यदि जूतों की तरह साथ छोड़ दिया होता तो कौन जाने आज या पंक्तियां लिखने वाली कलम और उंगलियों का कहीं पता भी न होता।

बड़ी आशा के साथ लिए हुए जूते ने काट खाया। जिन पैरों पर बहुत भरोसा था उनने भी दांत दिखा दिए। पर वे पैसे की लाठी इतनी काम आई कि कृतज्ञता से इसका गुणानुवाद गाते रहने को जी चाहता है।

अपनों से आशा थी पर उनने साथ नहीं दिया। इस पर झुंझलाहट आ रही थी कि दूसरे ही क्षण पराई लगने वाली लाठी की वफादारी याद आ गई। चेहरा प्रसन्नता से खिल गया। जिनने अड़चन पैदा की उनकी बजाय उन्हीं का स्मरण क्यों न करूं जिसकी उदारता और सहायता के बल पर यहां तक आ पहुंचा हूं। अपने पराये की क्या सोचूं? इस ईश्वर की दृष्टि से सभी अपने, सभी पराये हैं।

आज रास्ते भर पहाड़ी जनता के कष्ट साध्य जीवन को अधिक ध्यान से देखता आया और अधिक विचार करता रहा। जहां पहाड़ों में थोड़ी-थोड़ी चार-चार छः-छः हाथ जमीन भी काम की मिली है। वहां उतने ही छोटे खेत बना लिए हैं। बैलों की गुजर वहां कहां? कुदाली से ही मिट्टी को खोद कर जुताई की आवश्यकता पूरी कर लेते हैं। जब फसल पकती है तो पीठ पर लाद कर इतनी ऊंचाई पर बसे हुए अपने घरों में पहुंचते हैं और वहीं उसे कूट-पीट कर अन्न निकालते हैं। जहां झरने का पानी नहीं वहां बहुत नीचे गहराई तक को पानी सिर और पीठ पर लाद कर ले जाते हैं। पुरुष तो नहीं जहां तहां दीखते हैं सारा कृषि कार्य स्त्रियां ही करती हैं। ऊंचे पहाड़ों पर से घास और लकड़ी काट कर लाने का काम भी वे ही करती हैं।

जितनी यात्रा करके हम थक जाते हैं उससे कहीं अधिक चढ़ने उतरने और चलने का काम इन्हें करना पड़ता है। कोई मनोरंजन के साधन भी नहीं। कहीं हाथ से कती ऊन के बने कहीं सूती फटे टूटे कपड़ों में ढके थे फिर भी वे सब बहुत प्रसन्न दीखते थे। खेतों पर काम करती हुई स्त्रियां मिलकर गीत गाती थीं। उनकी भाषा न समझने के कारण उन गीतों का अर्थ तो समझ में न आता था पर उल्लास और सन्तोष जो उनमें से टपका पड़ता है उसे समझने में कुछ भी कठिनाई नहीं हुई।

सोचता हूं अपने नीचे के प्रान्तों के लोगों के पास यहां के निवासियों की तुलना में धन, सम्पत्ति, शिक्षा, साधन, सुविधा, भोजन मकान सभी कुछ अनेक गुना अधिक है। उन्हें श्रम भी काफी कम करना पड़ता है फिर भी लोग अपने को दुःखी और असन्तुष्ट ही अनुभव करते हैं, हर घड़ी रोना ही रोते रहते हैं। दूसरी ओर यह लोग हैं कि अत्यधिक कठिन जीवन बिता के जो निर्वाह योग्य सामग्री प्राप्त हो जाती है उसी से काम चला लेते हैं और सन्तुष्ट रहकर शान्ति का जीवन व्यतीत करते हैं। ऐसा यह अन्तर क्यों है?

लगता है—असन्तोष एक प्रवृत्ति है जो साधनों से नहीं तृष्णा से सम्बन्धित है। साधनों से तृष्णा तृप्त नहीं होती वरन् सुरसा के मुंह की तरह और अधिक बढ़ती है। यदि ऐसा न होता तो इसे पहाड़ी जनता की अपेक्षा अनेक गुने सुख साधन रखने वाले असन्तोष क्यों रहते? और स्वल्प साधनों के होते हुए भी यह पहाड़ी लोग गाते बजाते हर्षोल्लास से जीवन क्यों बिताते?

अधिक साधन हों तो ठीक है। उनकी जरूरत भी है, पर वे जितने मिल सकें उतने से प्रसन्न रहने और परिस्थिति के अनुसार अधिक प्राप्ति करने का प्रयत्न करने की नीति को क्यों त्यागा जाय? और क्यों अशांत और असन्तुष्ट रहकर उपलब्ध ईश्वरीय उपहार का तिरष्कार किया जाय?

सभ्यता की अन्धी दौड़ में अधिक खर्च और अधिक असन्तुष्ट रहने का जो रास्ता हमने अपनाया है, वह सही नहीं है। इस तथ्य का प्रतिपादन यह पहाड़ी जनता करती है भले वह इस विषय पर भाषण न दे सके, भले ही वह इस आदर्श पर निबन्ध न लिख सके।

गर्जन-तर्जन करती भेरों घाटी

आज भेरों घाटी पार की। तिब्बत से व्यापार करने के लिए नैलंग घाटी का रास्ता यहीं से है। हर्षिल के जाड़ और खापा व्यापारी इसी रास्ते तिब्बत के लिए माल बेचने ले जाते हैं और बदले में उधर से ऊन आदि लाते हैं। चढ़ाई बहुत कड़ी होने के कारण थोड़ी-थोड़ी दूर चलने पर ही सांस फूलने लगता था और बार-बार बैठने एवं सुस्ताने की आवश्यकता अनुभव होती थी।

पहाड़ की चट्टान के नीचे बैठा सुस्ता रहा था। नीचे गंगा इतने जोर से गर्जन कर रही थी जितनी रास्ते भर में अन्यत्र नहीं सुना। पानी के छींटे उछल कर तीस-चालीस फुट तक ऊंचे आ रहे थे। इतना गर्जन-तर्जन, इतना जोश, इतना तीव्र प्रवाह यहां क्यों है, यह जानने की उत्सुकता बढ़ी और ध्यान पूर्वक नीचे झांककर देखा तथा दूर-दूर तक दृष्टि दौड़ाई।

दिखाई दिया कि यहां गंगा दोनों ओर सटे पहाड़ों के बीच बहुत छोटी सी चौड़ाई में होकर गुजरती है। यह चौड़ाई मुश्किल से पन्द्रह-बीस फुट होगी। इतनी बड़ी जलराशि इतनी तंग जगह में होकर गुजरे तो वहां प्रवाह की तीव्रता होनी ही चाहिये। फिर उसी मार्ग में कई चट्टानें पड़ी थीं, जिनसे जलधारा तेजी से टकराती थी उस टकराहट से ही घोर शब्द हो रहा था और इतनी ऊंची उछालें छींटों के रूप में मार रहा था। गंगा के प्रचण्ड प्रवाह का दृश्य यहां देखते नहीं बनता था।

सोचता हूं कि सोरों आदि स्थानों में जहां मीलों की चौड़ाई गंगा की है वहां जलधारा धीमे-धीमे बहती रहती है वहां प्रवाह में न प्रचण्डता होती है और न तीव्रता। पर इस छोटी घाटी के तंग दायरे में होकर गुजरने के कारण जल धारा इतनी तीव्र गति से बही। मनुष्य का जीवन विभिन्न क्षेत्रों में बंटा रहता है बहु सुखी रहता है उसमें कुछ विशेषता पैदा नहीं हो पाती पर जब एक विशिष्ट लक्ष को ले कर कोई व्यक्ति उस सीमित क्षेत्र में ही अपनी सारी शक्तियों को केन्द्रित कर देता है तो उसके द्वारा आश्चर्य जनक उत्साह वर्धक परिणाम उत्पन्न होते देखे जाते हैं। मनुष्य यदि अपने कार्य क्षेत्र को बहुत फैलाने, अनेक और अधूरे काम करने की अपेक्षा अपने लिये

एक विशेष कार्य क्षेत्र चुन ले तो क्या वह भी इस तंग घाटी में गुजरते समय उछलती गंगा की तरह आगे बढ़ सकता है? उन्नति नहीं कर सकता?

जलधारा के बीच पड़े हुए शिला खण्ड पानी से टकराने के लिए विवश कर रहे थे। इसी संघर्ष में गर्जन-तर्जन हो रहा था और छोटे रुई के गुब्बारों के बने पहाड़ की तरह ऊपर उठ रहे थे। सोचता हूं यदि कठिनाइयां जीवन में न हो तो व्यक्ति की विशेषताएं बिना प्रकट हुए ही रह जायं। टकराने से शक्ति उत्पन्न होने का सिद्धान्त एक सुनिश्चित तथ्य है। आराम का शौक-मौज का जीवन विलासी जीवन निर्जीवों से कुछ ही ऊंचा माना जा सकता है। कष्ट सहिष्णुता, तितीक्षा, तपश्चर्या एवं प्रतिरोधों से बिना खिन्नता मन में लाये वीरोचित भाव से लिपटने का साहस यदि मनुष्य अपने भीतर एकत्रित करले तो उसकी कीर्ति भी उस आज के स्थान की भांति गर्जन-तर्जन करती हुई दिग्दिगंत में व्याप्त हो सकती है, उसका विशेषतायुक्त व्यक्तित्व छींटों के उड़ते हुए फुवार की तरह से ही दिखाई दें सकता है। गंगा डरती नहीं, न शिकायत करती है, वह तंगी में होकर गुजरती है, मार्ग रोकने वाले रोड़ों से घबराती नहीं वरन् उनसे टकराती हुई अपना रास्ता बनाती है। काश हमारी अन्तःचेतना भी ऐसे ही प्रबल वेग से परिपूर्ण हुई होती तो व्यक्तित्व के निखरने का कितना अमूल्य अवसर हाथ लगता।

सीधे और टेड़े पेड़

रास्ते भर चीड़ और देवदारु के पेड़ों का सघन वन पार किया। यह पेड़ कितने सीधे और ऊंचाई तक बढ़ते चले गये हैं उन्हें देखकर प्रसन्नता होती है। कोई-कोई पेड़ पचास फुट तक ऊंचे होंगे। सीधे ऐसे चले गये हैं मानो ढाल कर लट्ठे गाढ़ दिये हैं। मोटाई और मजबूती भी काफी है।

इनके अतिरिक्त तेवार, दादरा, पिनखू आदि के टेढ़े-मेढ़े पेड़ भी बहुत हैं जो चारों ओर छितराये हुए हैं इनकी बहुत डालियां फूटती हैं और सभी पतली रहती हैं। इनमें से कुछ को छोड़कर शेष ईंधन के काम आते हैं। ठेकेदार लोग इन्हें जलाकर कोयला भी बना ले जाते हैं यह पेड़ जगह तो बहुत घेरते हैं पर उपयोग इनका साधारण है। चीड़ और देवदारु से जिस प्रकार इमारती और फर्नीचर का काम होता है वैसा इन टेड़े तिरछे पेड़ों से बिलकुल भी नहीं होता। इसलिये इनकी कोई पूछ भी नहीं करता, मूल्य भी इनका बहुत सस्ता होता है।

देखता हूं जो पेड़ लम्बे गये हैं उनने इधर-उधर शाखायें नहीं फोड़ी हैं, ऊपर को एक ही दिशा में सीधे बढ़ते गये हैं। इधर-उधर मुड़ना इनने नहीं सीखा। शक्ति को एक ही दिशा में लगाये रहने से ऊंचे उठते रहना स्वाभाविक भी है। चीड़ और देवदारु के पेड़ों ने यही नीति अपनाई है, वे अपनी इस नीति की सफलता का गर्वोन्नत मस्तक से घोषणा कर रहे हैं। दूसरी ओर वे टेड़े तिरछे पेड़ हैं जिनका मन अस्थिर चित्त चंचल रहा। एक ओर टिका ही नहीं, विभिन्न दिशाओं का स्वाद चखना चाहा और यह देखना चाहा कि देखें किस दिशा में ज्यादा मजा है, किधर जल्दी सफलता मिलती है। इस चंचलता में उन्होंने अनेक दिशाओं में अपने को बांटा, अनेक अनेक शाखायें फोड़ी। छोटी-छोटी टहनियों से उनका कलेवर फूल गया, वे प्रसन्न भी हुए कि हमारी इतनी शाखायें हैं इतना फैलाव-फुलाव है।

दिन बीत गये। बेचारी जड़ें सब शाखाओं को खूब विकसित होने के लायक रस कहां से जुटा पातीं। प्रगति रुक गई, टहनियां छोटी और दुबली रह गईं। पेड़ का तना भी कमजोर रहा और ऊंचाई भी न बढ़ सकीं। अनेक भागों में विभक्त होने पर मजबूती तो रहती ही कहां से? बेचारे यह दादरा और पिनखू के पेड़ अपनी डालियां छितराये तो रहे लेकिन समझदार व्यक्तियों में उनका मूल्य

कुछ जंचा नहीं। उन्हें कमजोर और बेकार माना गया अनेक दिशाओं में फैल कर जल्दी से किसी न किसी दिशा में सफलता प्राप्त करने की उतावली में अन्ततः कुछ बुद्धिमत्ता साबित न हुई।

देवदारु का एक निष्ठ पेड़ मन-ही-मन इन टेढ़े तिरछे पेड़ों की चाल चपलता पर मुस्कराता हो तो आश्चर्य ही क्या है? हमारी वह चंचलता जिसके कारण एक लक्ष पर चीड़ की तरह सीधा बढ़ सकना सम्भव न हो सका यदि विज्ञ व्यक्तियों की दृष्टि में हमारे ओछे रह जाने के कारण जंचती हो तो इसमें अनुचित ही क्या है?

पत्तीदार साग

साग भाजी का इधर शौक ही नहीं है। आलू छोड़कर और कोई सब्जी यहां नहीं मिलती। नीचे के दूर प्रदेशों से आने के और परिवहन के साधन न होने से आलू भी महंगा पड़ता है। चट्टी के दुकानदार एक रुपया सेर देते हैं। यों इधर छोटे-छोटे झरने हैं उनसे जहां-तहां थोड़ी-थोड़ी सिंचाई भी होती है किन्तु वहां भी शाक-भाजी होने का रिवाज नहीं है। रोज आलू खाते-खाते ऊब गया। सब्जी के बारे में वहां निवासियों तथा दुकानदारों से चर्चा की तो उन्होंने बताया कि जंगल में खड़ी हुई तरह-तरह की वनस्पतियों में से तीन पौधे ऐसे होते हैं जिनके पत्तों का साग बनाया जाता है (1) मारचा (2) लिंगड़ा (3) कोला।

एक पहाड़ी को पारिश्रमिक के पैसे दिये और इनमें से कोई एक प्रकार की पत्तियां लाने को भेजा। पौधे चट्टी के पीछे ही खड़े थे वह बात की बात में मारचा की पत्तियां दो-चार सेर तोड़ लाया। बनाने की तरकीब भी उसी से पूछी और उसी प्रकार उसे तैयार किया। बहुत स्वादिष्ट लगा। दूसरे दिन लिंगड़ा की और तीसरे दिन कोला की पत्तियां इसी प्रकार वहां के निवासियों से मंगवाई और बनाई खाईं। तीनों प्रकार की पत्तियां एक दूसरे से अधिक स्वादिष्ट लगीं। चित्त बहुत प्रसन्न हुआ। एक महीने हरी सब्जी नहीं मिली थी, इसे खाकर तृप्ति अनुभव की।

उधर के पहाड़ी निवासी रास्ते में तथा चट्टियों पर मिलते ही थे। उनसे जगह-जगह मैंने चर्चा की कि इतने स्वादिष्ट पत्तीदार साग जब आपके यहां पैदा होते हैं उन्हें काम में नहीं लेते? पत्तीदार साग तो स्वास्थ्य की दृष्टि से भी बहुत लाभ दायक होते हैं। उनमें से किसी ने न तो मेरी सलाह को स्वीकार किया और न उन सागों को स्वादिष्ट तथा लाभप्रद ही माना। उपेक्षा दिखाकर बात समाप्त करदी।

सोचता हूं इस संसार में किसी वस्तु का महत्व तभी समझा जायगा जब उसकी उपयोगिता का पता हो। यह तीनों पत्तीदार साग मेरी दृष्टि में उपयोगी थे इसलिये वे महत्वपूर्ण भी जड़ें और स्वादिष्ट थीं। इन पहाड़ियों की इस उपयोगिता को न जाना था और न माना था इसलिए उनके समीप यह मुफ्त का साग मनों खड़ा था पर उससे वे लाभ नहीं उठा पा रहे थे। किसी वस्तु या बात की उपयोगिता जाने और अनुभव किये बिना मनुष्य न तो उसकी ओर आकर्षित होता है और न उसका उपयोग करता है। इसलिए किसी वस्तु का महत्व पूर्ण होने से भी बढ़कर है उसकी उपयोगिता को जानना और उनसे प्रभावित होना।

हमारे समीप भी कितने ही ऐसे तथ्य हैं जिनकी उपयोगिता समझ ली जाय तो उनसे आशाजनक लाभ हो सकता है। ब्रह्मचर्य, व्यायाम, ब्रह्म मुहूर्त में उठना, सन्ध्या वन्दन, समय का सदुपयोग, सात्विक आहार, नियमित दिनचर्या, व्यसनों से बचना, मधुर भाषण, शिष्टाचार आदि अनेकों तथ्य ऐसे हैं जिनका उपयोग हमारे लिए अतीव लाभदायक है और इनको व्यवहार में लाना कठिन भी नहीं है फिर भी हममें से कितने ही इनकी उपेक्षा करते हैं, व्यर्थ समझते हैं और हृदयंगम करने पर होने वाले लाभों से वंचित रह जाते हैं।

पहाड़ी लोग उपयोगिता न समझने के कारण ही अपने बिलकुल समीप प्रचुर मात्रा में खड़े पत्तीदार शाकों का लाभ नहीं उठा रहे थे। इसके लिए उनकी निन्दा करना व्यर्थ है। हमारे समीप भी तो आत्मकल्याण के लिए अगणित उपयोगी तथ्य बिखरे पड़े हैं पर हम ही कब उनको व्यवहार में लाते और लाभ उठाते हैं? मूर्खता में कोई किसी से पीछे भी क्यों रहे?

बादलों तक जा पहुंचे

आज प्रातःकाल से ही वर्षा होती रही। यों तो पहाड़ों की चोटी पर फिरते हुए बादल रोज ही दीखते पर आज तो वे बहुत ही नीचे उतर आये थे। जिस घाटी को पार किया गया वह भी समुद्र तल से 10 हजार फुट की ऊंचाई पर थी। बादलों को अपने ऊपर आक्रमण करते, अपने को बादल चीर कर पार होते देखने का दृश्य मनोरंजक भी था और कौतूहल वर्धक भी। धुनी हुई रुई के बड़े पर्वत की तरह भाप से बने ये उड़ते हुए बादल निर्भय होकर अपने पास चले आते। घने कुहरे की तरह चारों ओर एक सफेद अंधेरा अपने चारों ओर फिर जाता। कपड़ों में नमी आ जाती और शरीर भी गीला हो जाता। जब वर्षा होती तो पास में ही दीखता कि किस प्रकार रुई का बादल गल कर पानी की बूंदों में परिणित होता जा रहा है।

अपने घर गांव में जब हम बादलों को देखा करते थे तब वे बहुत ऊंचे लगते थे, नानी कहा करती थी कि जहां बादल हैं वहीं देवताओं का लोक है। यह बादल देवताओं की सवारी हैं इन्हीं पर चढ़ कर वे इधर उधर घूमा करते हैं और जहां चाहते हैं पानी बरसाते हैं। बचपन में कल्पना किया करता था कि काश मुझे भी एक बादल चढ़ने को मिल जाता तो कैसा मजा आता, उस पर चढ़ कर चाहे जहां घूमने निकल जाता। उन दिनों मेरी दृष्टि में बादल की कीमत बहुत थी। हवाई जहाज से भी अनेक गुनी अधिक। जहाज चलाने को तो उसे खरीदना, चलाना, तेल जुटाना सभी कार्य बहुत ही कठिन थे पर बादल के बारे में तो कुछ करना ही न था, वैसे कि चाहे जहां चल दिये।

आज बचपन की कल्पनाओं के समन बादलों पर बैठ कर उड़े तो नहीं पर उन्हें अपने साथ उड़ते तथा चलते देखा तो प्रसन्नता बहुत हुई। हम इतने ऊंचे चढ़े कि बादल हमारे पांवों को छूने लगे। सोचता हूं बड़े कठिन लक्ष जो बहुत ऊंचे और दूर मालूम पड़ते हैं, मनुष्य इसी तरह प्राप्त कर लेता होगा, पर्वत चढ़ने की कोशिश की तो बादल की बराबर पहुंच गया। कर्त्तव्य कर्म का हिमालय भी इतना ही ऊंचा है। यदि हम उस पर चढ़ते ही चलें तो साधारण भूमिका से विचरण करने वाले शिश्नोदर परायण लोगों की अपेक्षा वैसे ही अधिक ऊंचे उठ सकते हैं जैसे कि निरन्तर चढ़ते-चढ़ते दस हजार फुट की ऊंचाई पर आ गये।

बादलों को छूना कठिन है। पर पर्वत के उच्च शिखर के तो वह समीप ही होता है। कर्त्तव्य परायणता की ऊंची मात्रा हमें बादलों जितना ऊंचा उठा सकती है और जिन बादलों तक पहुंचना कठिन लगता है वे स्वयं ही खिंचते हुए हमारे पास चले आते हैं। ऊंचा उठाने की प्रवृत्ति हमें बादलों तक पहुंचा देती है, उन्हें हमारे समीप तक स्वयं उड़कर आने के लिए विवश कर देती है। बादलों को छूते समय ऐसी-ऐसी भावनाएं उनसे उठती रहें। पर बेचारी भावनाएं अकेली क्या करें। सक्रियता का बाना उन्हें पहनने को न मिले तो वे एक मानस तरंग मात्र ही रह जाती हैं।

जंगली सेब

आज रास्ते में और भी कितने ही यात्रियों का साथ था। उनमें कुछ स्त्रियां भी थीं। रास्तों में बिन्नी के पेड़ों पर लगे हुए सुन्दर फल दीखे। स्त्रियां आपस में पूछने लगीं यह किस-किस के फल हैं। उन्हीं में से एक ने कहा यह जंगली सेब हैं। न मालूम उसने जंगली सेब की बात कहां से सुन रखी थी। निदान यही तय हुआ कि यह जंगली सेब के फल हैं। फल खूब लदे हुए था। देखने में पीले और लाल रंग मिले हुए बहुत सुन्दर लगते थे और प्रतीत होता था यह खूब पके हैं।

वह झुण्ड रुक गया। सयानी सी लड़की पेड़ पर चढ़ गई, लगता था उसे अपने ग्रामीण जीवन में पेड़ों पर चढ़ने का अभ्यास रहा है। उसने 40-40 फल नीचे गिराये। नीचे खड़ी स्त्रियों ने उन्हें आपा-धापी के साथ बीना। किसी के हाथ ज्यादा लगे किसी के कम। जिसके हाथ कम लगे थे वह उससे लड़ रही थी जिसने ज्यादा बीने थे। लड़ती जाती थी और कहती जाती थी तूने रास्ता रोक कर झपट कर अधिक बीन लिए, मुझे नहीं बीनने दिए। जिसके पास अधिक थे वह कह रही थी मैंने भाग दौड़ कर अपने पुरुषार्थ पर बीने हैं जिसके हाथ पैर चलेंगे वही तो नफे में रहेगा। तुम्हारे हाथ-पैर चलते तो तुम भी अधिक बीनती।

इन फलों को अगली चट्टी पर भोजन के साथ खायेंगे, बड़े मीठे और सुन्दर यह होते हैं। रोटी के साथ खाने में अच्छे लगेंगे। धोती के पल्लू में बांधकर वे प्रसन्न होती हुई चल रही थीं कि कीमती फल, इतनी तादाद में उनने अनायास ही पा लिये। लड़ाई झगड़ा तो शान्त हो गया था पर ज्यादा कम बीनने की बात पर मनोमालिन्य जो उत्पन्न हुआ था वह बना हुआ था। एक दूसरे की नाराजी के साथ घूर-घूर का देखती चलती थीं।

चट्टी आई। सब लोग ठहरे। भोजन बना। फल निकाले गये। जिसने चखे उसी ने थू-थू किया। वे कड़वे थे। इतनी मेहनत से लड़ झगड़ कर लाये हुए सुन्दर दीखने वाले जंगली सेब कड़वे और बेस्वाद थे उसे देखकर उन्हें बड़ी निराशा हुई। सामने खड़ा हुआ पहाड़ी कुली हंस रहा था। उसने कहा ''यह तो विन्नी का फल है। उसे कोई नहीं खाता। इसकी गुठली का तेल भर निकालते हैं।'' वे समझे बूझे इन्हें बीनने, लाने और खाने की मूर्खता पर वे सभी स्त्रियां संकुचा रही थीं।

मैं भी साथ था। इस सब माजरे के आदि से अन्त तक साथ था। दूसरे और यात्री उन यात्रियों की भूल पर मुस्करा रहे थे; कनखियां ले रहे थे, आपस में उन फलों का नाम ले लेकर हंसी कर रहे थे। उन्हें हंसने का एक प्रसंग मिल गया था, दूसरों की भूल और असफलता पर आमतौर से लोगों को हंसी आती ही है। केवल पीला रंग और बढ़िया रूप देखकर उनमें पका मीठा और स्वादिष्ट फल होने की कल्पना करनी यह उनकी भूल थी। रूप से सुन्दर दीखने वाली सभी चीजें मधुर कहां होती हैं, यह उन्हें जानना चाहिए था। न जानने पर शर्मिंदगी उठानी पड़ी और परेशानी भी हुई। आपस में लड़ाई झगड़ा होता रहा सो व्यर्थ ही।

सोचता हूं बेचारी इन स्त्रियों की ही हंसी हो रही है और सारा समाज रंग रूप पर मुग्ध होकर पतंगे की तरह जल रहा है, उस पर कोई नहीं हंसता। रूप की दुनिया में सौंदर्य का देवता पूजता है। तड़क-भड़क, चमक-दमक सबको अपनी ओर आकर्षित करती है और उस प्रलोभन से लोग बेकार चीजों पर लट्टू हो जाते हैं। अपनी राह खोटी करते हैं और अन्त में उनकी व्यर्थता पर इस तरह पछताते हैं जैसे यह स्त्रियां बिन्नी के कड़ुवे फलों को समेट कर पछता रही हैं। रूप पर मरने वाले यदि अपनी भूल समझें तो उन्हें गुणों का पारखी बनना चाहिये। पर यह तो तभी सम्भव है जब रूप के आकर्षण से अपनी विवेक बुद्धि को नष्ट होने से बचा सकें।

बिन्नी के फल किसी ने नहीं खाये। वे फेंकने पड़े। खाने योग्य वे थे भी नहीं। धन, दौलत, रूप, यौवन, राग-रंग, विषय-वासना, मौज-मजा जैसी अगणित चीजें ऐसी हैं जिन्हें देखते ही मन मचलता है किन्तु दुनिया में चमकीली दीखने वाली चीजों में से अधिकांश ऐसी ही होती हैं जिन्हें पाकर पछताना और अन्त में उन्हें आज के जाली सेबों की तरह फेंकना ही पड़ता है।

संभल कर चलने वाले खच्चर

पहाड़ों पर बकरी के अतिरिक्त खच्चर ही भारवाहन का काम करते हैं। सवारी के लिए भी उधर वे ही उपलब्ध हैं। जिस प्रकार अपने नगरों की सड़कों पर गाड़ी, ठेले, तांगे, रिक्शे चलते हैं उसी तरह चढ़ाव उतार की विषम और खतरनाक पगडंडियों पर यह खच्चर ही निरापद रूप से चलते फिरते नजर आते हैं।

देखा कि जिस सावधानी से ठोकर और खतरा बचाते हुए इन पगडंडियों पर हम लोग चलते हैं। उसी सावधानी से यह खच्चर भी चल रहे हैं हमारे सिर की बनावट ऐसी है कि पैरों के नीचे की जमीन को देखते हुए, खतरों को बचाते हुए आसानी से चल सकते हैं, पर खच्चरों के बारे में ऐसी बात नहीं है, उनकी आंखें ऐसी जगह लगी हैं और गरदन का मुड़ाव ऐसा है जिससे सामने देखा जा सकता है पर पैरों के नीचे देख सकना कठिन है। इतने पर भी खच्चर का हर कदम बड़ी सावधानी से और सही-सही रखा जा रहा था जरा सी चूक होने पर वह भी उसी तरह लुढ़क कर मर सकता है जैसे कल एक बछड़ा गंगोत्री की सड़क पर चूर-चूर हुआ मरा पड़ा देखा था। बेचारे का पैर जरा सी असावधानी से गलत जगह पड़ा कि अस्सी फुट की ऊंचाई से आ गिरा और उसकी हड्डी-पसली चकना चूर हो गई। ऐसा कभी-कभी ही होता है, खच्चरों के बारे में तो ऐसी घटना कभी नहीं सुनी गई।

लादने वालों से पूछा तो उनने बताया कि खच्चर रास्ता चलने के बारे में बहुत ही सावधानी और बुद्धिमता से काम लेता है। तेज चलता है पर हर कदम को थाह-थाह कर चलता है। ठोकर या खतरा हो तो तुरन्त संभल जाता है, बढ़े हुए कदम को पीछे हटा लेता है और दूसरी ठीक जगह पैर के सहारे तलाश कर वहीं कदम रखता है। चलने में उसका ध्यान अपने पैरों और जमीन की स्थिति के संतुलन में ही लगा रहता है। यदि वह ऐसा न कर सका होता तो इस विषम भूमि में उसकी कुछ उपयोगिता ही न होती।

खच्चर की बुद्धिमत्ता प्रशंसनीय है। मनुष्य जब कि बिना आगा-पीछा सोचे गलत दिशा में कदम उठाता रहता है और एक के बाद एक ठोकर खाते हुए भी संभलता नहीं, पर इन खच्चरों को तो देखें। कि हर कदम का संतुलन बनाये रखने से जरा भी नहीं चूकते। यदि इस ऊबड़-खाबड़ दुरंगी दुनिया से जीवन मार्ग पर चलते हुए यदि इन पहाड़ी खच्चरों की भांति अपना हर कदम सावधानी के साथ उठा सकने में समर्थ हो सके तो हमारी स्थिति वैसी ही प्रशंसनीय होती जैसी इस पहाड़ी प्रदेश में खच्चरों की है।

गोमुख के दर्शन

आज माता गंगा के मूल उद्गम को देखने की चिर अभिलाषा पूरी हुई। गंगोत्री तक पहुंचने में जितना कठिन मार्ग मिला था उससे कहीं अधिक दुर्गम यह गंगोत्री से गोमुख तक का अठारह मील का टुकड़ा है। गंगोत्री तक के रास्ते में जो जब टूट-फूट होती है तो सरकारी सड़क विभाग के कर्मचारी ठीक करते रहते हैं। पर इस उपेक्षित मार्ग को जिसमें बहुत कम लोग ही कभी-कभी जाते हैं कौन सुधारे। पर्वतीय मार्गों को हर साल बिगड़ना ही ठहरा यदि एक दो वर्ष उनकी उपेक्षा रहे तो वे काफी जटिल हो जाते हैं। कई जगह तो रास्ते ऐसे टूट गये थे कि वहां से गुजरना जीवन के साथ जुआ खेलने के समान था। एक पैर फिसलने की देर थी कि जीवन का अन्त ही समझना चाहिए।

जिस हिमस्तूप (ग्लेशियर) से गंगा की छोटी सी धारा निकली है वह नीली रंग की है। गंगा माता का यह उद्गम हिमाच्छादित गिरि श्रृंगों से बहुत ही शोभनीय प्रतीत होता है। धारा का दर्शन एक साधारण से झरने के रूप में होता है। वह है तो पतली सी ही पर वेग बहुत है। कहते हैं कि यह धारा कैलाश से—शिवजी की जटाओं से आती है। कैलाश से गंगोत्री तक का सैकड़ों मील का रास्ता गंगा भीतर ही भीतर पार करती है और उसे करोड़ों टन ग्लेशियर का दबाव सहन करना पड़ता है इसी से धारा इतनी तीव्र निकली है। जो हो, भावुक हृदय के लिए यह धारा ऐसी ही लगती है मानो माता की छाती से दूध की धारा निकली है, उसे पान करके, इसी में निमग्न हो जाने की ऐसी ही हूक उठती है जैसी गंगा लहर के रचयिता जगन्नाथ मिश्र के मन में उठी थी और स्वरचित गंगा लहरी का एक-एक श्लोक का गान करते हुए एक-एक कदम उठाते गंगा और अन्तिम श्लोक गाते हुए भावावेश में माता की गोद में ही विलीन हो गये। कहते हैं कि स्वामी रामतीर्थ भी ऐसे ही भावावेश में गंगा माता की गोद में कूद पड़े थे और जल समाधि ले गये थे।

अपनी हूक मैंने पान और स्नान से ही शान्त की। रास्ते भर उमंगें और भावनाएं भी गंगा जल की भांति हिलोरें लेती रहीं। अनेक विचार आते और जाते रहे। इस समय एक महत्वपूर्ण विचार मन में आया, उसे लिपि बद्ध करने का लोभ संवरण न कर सका। इसलिए उसे लिख ही रहा हूं।

सोचता हूं कि यहां गोमुख में गंगा एक नन्हीं सी पतली धारा मात्र है। रास्ते में हजारों झरने, नाले और नदी उससे मिलते गये हैं। उनमें से कई तो इस गंगा की मूल धारा से कइयों गुने अधिक बड़े हैं। उन सबके संयोग से ही गंगा इतनी बड़ी और चौड़ी हुई है, जितनी हरिद्वार, कानपुर, प्रयाग आदि में दिखाई पड़ती है। उसमें से बड़ी-बड़ी नहरें निकाली गई हैं। गोमुख के उद्गम का पानी तो उनमें से एक नहर के लिए भी पर्याप्त नहीं हो सकता। यदि कोई नदी-नाले रास्ते में उसे न मिले तो सम्भवतः सौ पचास मील की मिट्टी ही उसे सोखले और आगे बढ़ने का अवसर ही न रहे। गंगा महान् है—अवश्य ही महान् है। क्योंकि वह नदी-नाले को अपने स्नेह बन्धन से बांध सकने में समर्थ हुई। उसने अपनी उदारता का अंचल फैलाया और छोटे-छोटे झरनों नालों को भी अपने बाहुपाश से आबद्ध करके छाती से चिपटाती चली गई। उसने गुण-दोषों की परवा किये बिना सभी को अपने उदर अंचल में स्थान दिया। जिसके अन्तर में आत्मीयता की, स्नेह सौजन्य की अगाध मात्रा भरी पड़ी है उसे जल राशि की कमी कैसे पड़ सकती है। दीपक जब स्वयं जलता तो पतंगे भी उस पर जलने को तैयार हो जाते हैं। गंगा जब परमार्थ के उद्देश्य से संसार में शीतलता फैलाने निकली है तो क्यों न नदी नाले भी उसकी आत्मा में अपनी आत्मा की आहुति देंगे? गांधी, बुद्ध, ईसा की गंगाओं में कितनी आत्माएं आज अपने को आत्म सात करा चुकी हैं, यही सभी को स्पष्ट दृष्टि गोचर हो रहा है।

गंगा की सतह सबसे नीची है, इसलिए नदी नालों का गिर सकना सम्भव हुआ। यदि उसने अपने को नीचा न बनाया होता, सबसे ऊपर उठकर चली, अपना स्तर ऊंचा रखती, तो फिर नदी नाले तुच्छ होते हुए भी उसके अहंकार को सहन न करते, उससे ईर्ष्या करते और अपना मुख दूसरी ओर मोड़ लेते। नदी नालों की उदारता है सही—उनका त्याग प्रशंसनीय है सही—पर उन्हें उस उदारता और त्याग को चरितार्थ करने का अवसर गंगा ने अपने को नम्र बनाकर, नीचे स्तर पर रखकर ही दिया है। अन्य अनेकों महत्ताएं गंगा की हैं पर यह एक महत्ता ही उसकी इतनी बड़ी है कि जितना भी अभिवादन किया जाय कम है।

नदी नदों ने, झरने और सर सोतों ने भी अपना अलग अस्तित्व कायम न रखने की, अपनी व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं और कीर्ति स्थापित करने की लालसा को दमन करने की जो दूरदर्शिता की है वह भी सर्वथा अभिनन्दनीय है। उनने अपने को खोकर गंगा की क्षमता, महत्ता और कीर्ति बढ़ाई। सामूहिकता का, एकत्रीकरण का, मिलजुल कर काम करने का महत्व समझा, इसके लिए उनकी जितनी प्रशंसा की जाय कम है। संगठन में ही शक्ति है यह उन्होंने वाणी से नहीं, मन से नहीं प्रत्यक्ष क्रिया से कर दिखाया, कर्मवीरता इसे ही कहते हैं, आत्म-त्याग के इस अनुपम आदर्श में जितनी महानता है उतनी ही दूरदर्शिता भी है। यदि वे अपना अलग अस्तित्व बनाये रहने पर अड़े रहते, सोचते जो मेरी क्षमता है उसका यश मुझे ही मिलना चाहिए और गंगा में मिलने से इनकार कर देते तो अवश्य ही उनका अपना अस्तित्व भी अलग रहता और नाम भी। पर वह होता इतना छोटा कि उसे उपेक्षणीय और नगण्य ही माना जाता। उस दशा में उस जल को गंगाजल कोई नहीं कहता और उसका चरणामृत सिर पर चढ़ाने को कोई लालायित न रहता।

गोमुख पर आज जिस पुनीत जल धारा में माता गंगा का दर्शन मज्जन मैंने किया, वह तो उद्गम मात्र था। पूरी गंगा का तो सहस्रों नदी नालों के संगठन से सामूहिकता का कार्य-क्रम लेकर चलने पर बनी है। गंगा सागर ने उसी का स्वागत किया है। सारी दुनिया उसी को पूजती है। गोमुख की तलाश में तो मुझ जैसे चन्द आदमी ही पहुंच पाते हैं।

गंगा और नदी नालों के सम्मिश्रण के महान् परिणाम को यदि सर्व साधारण की—नेता और अनुयायियों की समझ में आ जावे—लोग सामूहिक के, सामाजिकता के महत्व को हृदयंगम कर सकें—तो एक ऐसा ही पवित्र पापनाशिनी, लोकतारिणी संघ शक्ति का प्रादुर्भाव हो सकता है जैसा गंगा का हुआ है।

तपोवन का मुख्य दर्शन

भगवती भागीरथी के मूल उद्गम गोमुख के दर्शन करके अपने को धन्य माना। यों देखने में एक विशाल चट्टान में फटी हुई दरार में से दूध जैसे स्वच्छ जल का उछलता हुआ झरना बस यही गोमुख है। पानी का प्रवाह अत्यन्त वेग वाला होने से बीच में पड़े हुए पत्थरों से टकरा कर वह ऐसा उछलता है कि बहुत ऊपर तक छींटें उड़ते हैं। इस जल कणों पर जब सूर्य की सुनहरी किरणें पड़ती हैं तो वे रंगीन इन्द्रधनुष जैसी बहुत ही सुन्दर दीखती हैं।

इस पुनीत निर्झर से निकली हुई माता गंगा लाखों वर्षों से मानव जाति को जो तरण-तारण का संदेश देती रही है, जिस महान् संस्कृति को प्रवाहित करती रही है उसके स्मरण मात्र से आत्मा पवित्र हो जाती है। इस दृश्य को आंखों में बसा लेने को जी चाहता है।

चलना इससे आगे था। गंगा वामक, नंदनवन, भागीरथ शिखर, शिवलिंग पर्वत से घिरा हुआ तपोवन यही हिमालय का हृदय है। इस हृदय में अज्ञात रूप में अवस्थित कितनी ऊंची आत्माएं संसार के तरण-तारण के लिए आवश्यक शक्ति भण्डार जमा करने में लगी हुई हैं इनकी चर्चा न तो उचित है न आवश्यक। वह असामयिक भी होगी इसलिए उस पर प्रकाश न डालना ही ठीक है।

यहां से हमारे मार्ग दर्शक ने आगे का पथ-प्रदर्शन किया। कई मील की विकट चढ़ाई को पार कर तपोवन के दर्शन हुए। चारों ओर हिमाच्छादित पर्वत श्रृंखलाएं अपने सौन्दर्य की अलौकिक छटा बिखेरे हुए थीं। सामने वाला शिवलिंग पर्वत का दृश्य बिलकुल ऐसा था मानो कोई विशालकाय सर्प फन फैलाए बैठा हो। भावना की आंखें जिन्हें प्राप्त हों वह भुजंगधारी शिव का दर्शन अपने चर्म चक्षुओं से ही यहां कर सकता है। दाहिनी ओर लालिसा लिए हुए सुमेरु हिम पर्वत है। कई और नील आभा वाली चोटियां ब्रह्मपुरी कहलाती हैं। इससे थोड़ा और पीछे हटकर बांई तरफ भागीरथ पर्वत है। कहते हैं कि यहीं बैठकर भागीरथ जी ने तप किया था जिससे गंगावतरण सम्भव हुआ।

यों गंगोत्री में भी गौरी कुण्ड के पास एक भागीरथ शिला है, इसके बारे में भी भागीरथ जी के तप की बात कही जाती है पर वस्तुतः यह स्थान हिमाच्छादित भागीरथ पर्वत ही है। इंजीनियर लोग इसी पर्वत में गंगा का उद्गम मानते हैं।

भागीरथ पर्वत के पीछे नीलगिरि पर्वत है जहां से नीले जल वाली नील नदी प्रवाहित होती है। यह सब रंग-बिरंगे पर्वतों का स्वर्गीय दृश्य एक ऊंचे स्थान पर से देखा जा सकता है। जब बर्फ पिघलती है तो भागीरथ पर्वत का विस्तृत फैला हुआ मैदान दुर्गम हो जाता है बर्फ फटने से बड़ी-बड़ी चौड़ी खाई जैसे दरारें पड़ती हैं उनके मुख में कोई चला जाय तो फिर उसके लौटने की आशा नहीं की जा सकती। श्रावण भाद्रपद महीने में जब बर्फ पिघल चुकी होती है तो यह प्रदेश सचमुच ही नन्दनवन जैसा लगता है। केवल नाम ही इसका नन्दनवन नहीं है वरन् वातावरण भी वैसा ही है। उन दिनों मखमल जैसी घास उगती है और दुर्लभ जड़ी बूटियों की महक से सारा प्रदेश सुगन्धित हो उठता है। फूलों से यह धरती लद सी जाती है। ऐसी सौन्दर्य स्रोत भूमि में यदि देवता निवास करते हों तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। पाण्डव सशरीर स्वर्गारोहण के लिए यहां आये होंगे इसमें कुछ भी अत्युक्ति मालूम नहीं होती।

हिमालय का यह हृदय तपोवन जितना मनोरम है उतना ही दुर्लभ भी है। शून्य से भी नीचे जमने लायक बिन्दु पर जब यहां सर्दी पड़ती है तब इस सौंदर्य को देखने के लिए कोई विरला ही ठहरने में समर्थ हो सकता है। बद्रीनाथ, केदारनाथ तीर्थ इस तपोवन

की परिधि में ही आते हैं। यों वर्तमान रास्ते से जाने पर गोमुख से बद्रीनाथ लगभग ढाई सौ मील है पर यहां तपोवन से माणा घाटी होकर केवल बीस मील ही है। इस प्रकार केदारनाथ यहां से बारह मील है पर हिमाच्छादित रास्ते सबके लिए सुगम नहीं हैं।

इस तपोवन को स्वर्ग कहा जाता है। उसमें पहुंच कर मैंने यही अनुभव किया मानो सचमुच स्वर्ग में ही खड़ा हूं। यह सब उस परम शक्ति की कृपा का ही फल है, जिनके आदेश पर यह शरीर निमित्त मात्र बनकर कठपुतली की तरह चलता चला जा रहा है।

***

धरती पर देवभूमि के दर्शन - गंगा का उद्गम

****

गोमुख आजकल गंगोत्री से 18 मील आगे है। किन्तु प्राचीन काल में वह गंगोत्री में ही था। विशाल भागीरथ शिला वही है जिस पर बैठकर भागीरथजी ने तप किया था। पार्वती के तप का स्थान गौरी कुण्ड है, गंगोत्री का यह स्थान बहुत ही भव्य है। शिव जी ने अपनी जटाओं में गंगा को वहीं लिया बताते हैं। यहां जलधारा बहुत ऊंचे से बड़े कोलाहल के साथ गिरती है। नारद जी भागीरथी का उद्गम देखकर जब वापिस गये तो ब्रह्माजी ने उनकी बड़ी प्रशंसा की थी। और कहा था—

धन्योऽसि कृतकृत्योऽसि धन्यो धन्यः पुनः पुनः ।
यत्त्वयासेवितं तीर्थं पुण्यं गंगोत्तरम् मुने ।।

हे नारद, तुम धन्य हो। तुमने गंगोत्री का सेवन किया तुम कृतकृत्य हो गये, तुम्हें बार-बार धन्यवाद है।

इस पुण्य तीर्थ की प्रशंसा करते हुए बहुत कुछ कहा गया है—

तापसानां तपः स्थानं मुनीनां मननालयः ।
भक्तानां च विरक्तानामावसो हृदय प्रियः ।।

यह तपस्वियों के तप का स्थान है, मुनियों के मनन करने की भूमि है। भक्तों और विरक्तों के हृदय को आह्लादित करने वाला यह क्षेत्र है।

ब्रह्मैव परमं साक्षात् द्रव रूपेण धावति ।
पुमर्थ करणार्थं कौ गंगेति शुभ संज्ञया ।

यहां साक्षात् परब्रह्म ही पृथ्वी पर गंगा इस शुभ नाम से मनुष्यों को चारों पदार्थ देने के लिए जल रूप में बह रहे हैं।

कुत्र गंगोत्तरी तीर्थ कुत्र काशी गयादयः ।
प्रचंड द्युमणेरग्रे खद्योतः कि प्रकाशते ।।

कहां तो गंगोत्तरी तीर्थ और कहां काशी, गया आदि तीर्थ। मध्याह्न काल के सूर्य के सामने खद्योत क्या प्रकाश कर सकता है?

न पापं न दुराचारः कौटिल्यं कूट कर्म च ।
न धर्मध्वजिता यत्र नवा दुःखं महाद्भुतम् ।।

इस क्षेत्र में पाप नहीं, दुराचार नहीं, कुटिलता नहीं, छल वंचना नहीं और साथ ही किसी प्रकार का दुःख भी नहीं है।

भागीरथ तपः स्थानं त्रिषुलोकेषु विश्रुतम् ।
इदं भूलोक वैकुण्ठ मिति जानहि नारद ।।

हे नारद! यह पवित्र पुण्य तीर्थ भागीरथ का तप स्थान तीनों लोकों में प्रसिद्ध है, इसे तुम भूलोक का स्वर्ग ही समझो।

ऋतु विशेषज्ञों का कथन है कि यह प्रदेश अब धीरे-धीरे गरम होता जा रहा है। पहले जितनी बर्फ यहां पड़ती थी अब उतनी नहीं पड़ती। गंगा ग्लेशियर धीरे-धीरे गलता जा रहा है और अब गोमुख 18 मील पीछे चला गया है। लगभग 1 मील तो अभी कुछ

ही वर्षों में हटा है। इसलिए गंगा से उद्गम तक जाने वालों को अब गंगोत्री से 18 मील ऊपर जाना पड़ता है। इस पुण्य उद्गम का वर्णन करते हुए कहा गया है—

तत्र प्रालेय संघात भूषिते भुवि भूषणे।
गोमुखे गोमुखाकार महातुहिन गह्वरात्॥
निर्गच्छति महावेगा गंगा सुरतरङ्गिणी।
पावनी पावनार्थाय पृथ्वीलोक निवासिनाम्॥

बर्फ के समूह से भूषित और भूमि के विभूषण उसे गोमुख स्थान में गौ के मुख के सदृश बर्फ की महान् गुफा से पुण्य वर्ती सुरनदी गंगाजी भूलोक के निवासियों को पावन करने के लिए महान् वेगवती होकर निकलती हैं।

गंगोत्री से 9 मील पर चीड़ का वृक्षों का वन है इसे चीड़वासा कहते हैं। वासा शब्द उधर वन के अर्थ में प्रयोग किया जाता है। चीड़वासा अर्थात् चीड़ के वृक्षों का वन। यहां एक पुण्यात्मा ने एक छोटी सी धर्मशाला बनादी है। इसमें प्रबन्धक को कोई नहीं रहता, पर भोजन पकाने तथा जल रखने को कुछ बर्तन पड़े रहते हैं। जो वहां पहुंच जाता है वही उसका प्रबन्धक बन जाता है। यहां से भेजनवासा प्रारम्भ होता है। भोजवासा अर्थात् भोजपत्र के वृक्षों का वन। इस वृक्ष के ऊपर जो वल्कल निकलता है उससे ओढ़ने-बिछाने का, वस्त्रों का कुटिया ढकने का, काम चल जाता है। इसी क्षेत्र में पांच महात्माओं की कुटिया हैं जो शीत काल में भी भीषण बर्फ के नीचे यहीं रहते हैं। गंगा के दूसरी पार स्वामी तत्व बोधानन्द जी की कुटिया है। ग्रीष्म ऋतु में जब उधर आने जाने का मार्ग खुलता है तब यह लोग 9 महीने के लिए जीवन निर्वाह की आवश्यक सामग्री जमा कर लेते हैं और अग्नि के सहारे जीवन धारण किये रहते हैं। एक महात्मा रघुनाथ दास अन्न नहीं लेते, वे ग्रीष्म में हरे और शीत में सूखे पत्ते आलू के साथ बनाकर कितने ही वर्षों से काम चला रहे हैं। भोजपत्र के पेड़ में जहां-तहां कूबड़ जैसी मुलायम गांठें निकल आती हैं जिन्हें 'भुजरा' कहते हैं। इसे पानी में उबालने से बढ़िया किस्म की चाय बनती है जो रंग, स्वाद और गर्मी देने में बाजारू चाय की अपेक्षा हर प्रकार उत्कृष्ट होती है। शीत निवारण के लिए इन महात्माओं का दैनिक पेय यही रहता है। दूध और चीनी का तो वहां अभाव ही रहता है। इसलिए इस भुजरा के उबाले हुए क्वाथ को वे नमक डालकर पिया करते हैं।

इस भोजवासा क्षेत्र में एक छोटी-सी नदी है जिसे 'भोजगढ़' कहते हैं। गढ़ शब्द पहाड़ी भाषा में नदी के अर्थ में प्रयोग होता है। भोजगढ़ अर्थात् भोजपत्र वन में बहने वाली नदी। इसके बाद फूलवासा अर्थात् फूलवन आरंभ हो जाता है। जहां कोई वृक्ष नहीं मिलता भूमि पर वनस्पतियां उगी होती हैं। यह वनस्पतियां श्रावण-भाद्रपद महीनों से सुन्दर पुष्पों से सुशोभित होती हैं। इसे पार करके गोमुख आता है।

इस 18 मील प्रदेश में कोई सड़क या पगडंडी नहीं है। जानकार मार्ग दर्शक कुछ पहचाने हुए वृक्षों, पत्थरों, शिखरों तथा दृश्यों के आधार पर चलते हैं और यात्री को गोमुख तक ले पहुंचते हैं। रास्ते में कई स्थान ऐसे हैं जहां थोड़ी भी चूक होने पर जीवन का अन्त ही हो सकता है। चलने और चढ़ने में कितनी कठिनाइयां हैं इनका वर्णन न करते हुए यहां तो यही कहना उचित है कि इस प्रदेश में प्रवेश करने पर मनुष्य थकान और कष्टों को भुलाकर एक अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव करता है। प्रकृति माता की इस सुहावनी गोद से—जब वह कोलाहल भरे हुए दुःवृत्तियों से पटे हुए शहरों की तुलना करता है तो वह सचमुच ही अपने नरक से निकल कर एक स्वर्गीय वातावरण में निमग्न पाता है।

भगवती भागीरथी का उद्गम दर्शक को एक आध्यात्मिक आनन्द में विभोर कर देता है। यदि गंगा को एक नदी मात्र माना जाय तो भी उसके इस उद्गम का प्राकृतिक सौन्दर्य इतना सुशोभित है कि कोई सौन्दर्य परखी इस दृश्य पर मुग्ध हुए बिना नहीं रह सकता। 'गोमुख' शब्द से ऐसा अनुमान किया जाता है कि वहां गाय के मुंह की शकल का कोई छेद होगा वहां से धारा गिरती होगी, पर वहां ऐसी बात नहीं है। बर्फ के पर्वत में एक गुफा जैसा बड़ा छेद है उसमें से अत्यन्त प्रबल वेग से पिचकारी की तरह एक छोटी-सी जलधारा उछलती हुई निकलती है। उस शोभा का वर्णन कर सकना किसी कलाकार का ही काम है। यदि गंगा को एक आध्यात्मिक धारा माना जाय तो उसके उद्गम स्थल से वह अध्यात्म तत्व भी प्रबल वेग के साथ उद्भूत होता है। कोई भी श्रद्धालु हृदय यहां यह प्रत्यक्ष अनुभव कर सकता है कि कोई दिव्य अध्यात्म तरंगें उसके अन्तःकरण के कण-कण को एक दिव्य आनन्द में सराबोर कर रही हैं। गंगा का अध्यात्म यों जहां भी वह बहती है हर जगह है, पर उसकी पूर्ण निर्मलता देखनी हो तो वह इस गोमुख पर ही दृष्टिगोचर होती है।

भोजवासा से यहां तक 8 मील की दूरी में कोई विश्राम स्थल नहीं है। जहां-तहां बड़े पत्थर बाहर निकले हुए हैं उनके नीचे सुस्ताया जा सकता है। साल में तीर्थ यात्रियों की संख्या अब 5-6 सौ तक होने लगी है। उन सभी को पहली रात जहां चीड़वासा की धर्मशाला में विश्राम किया था वहीं फिर लौट कर जाना पड़ता है। 8 मील जाना और 8 मील लौटना यह 16 मील, इतनी विकट चौड़ाई और दुर्गम पथ के कारण बहुत भारी पड़ते हैं। कोई श्रद्धालु यहां गोमुख पर कुछ देर विश्राम या भजन ध्यान करना चाहे तो कर नहीं सकता क्योंकि उसे तुरन्त लौटने की चिन्ता पड़ती है। अन्यथा 16 मील का मार्ग कैसे पार हो? रात हो जाय, वर्षा होने लगे तब तो मार्ग मिलना भी कठिन है। इसलिए यात्री कुछ देर यहां ठहरना चाहता है पर मन मारकर वापिस ही लौटता है। कुछ दिन पूर्व गंगा के उस पार एक उदासीन बाबा रहते थे, उनका शरीर शान्त हो जाने से वह कुटिया भी अस्त-व्यस्त हो रही है। मन में विचार उठा कि यहां छोटी धर्मशाला होती तो भोजवासा की तरह यहां भी लोग ठहरते और एक दिन में 16 मील चलने की आपत्ति से भयभीत होकर इस पुण्य भूमि का लाभ कुछ समय अवश्य उठाते। स्थान की आवश्यकता मन को खींचती रही। संकल्प ने कहा—यह कुछ असम्भव नहीं है। यहां इस गंगा के उद्गम गोमुख पर एक छोटी धर्मशाला बन सकती है। शीघ्र ही बनेगी भी।

*** *** *** *** ***

गोमुख तक यात्रियों का आना सम्भव होता है, उससे ऊपर घोर हिमालय-प्रारम्भ हो जाता है। जहां जाने का न कोई मार्ग है और न प्रयोजन। हिमालय का हृदय यहीं से प्रारम्भ होता है। उसमें प्रवेश कर हमें तपोवन तक जाना था, समीप ही नन्दनवन है। वहां पहुंचकर अपना प्रयोजन पूर्ण हुआ। जितना ठहरना था, ठहर गया, जो करना था किया गया, जो कहना था कहा गया, जो सुनना था सुना गया। उससे सर्व साधारण का कोई प्रयोजन नहीं है। उस व्यक्तिगत बातों की चर्चा भी अप्रासंगिक होगी।

धरती के स्वर्ग को देखने की प्रबल इच्छा उठ रही थी और किसी के अनुग्रह से ही वह असम्भव दीखने वाले कार्य की व्यवस्था सहज ही बन गई। प्रभु की महान् कृपा और महात्माओं के आशीर्वाद से कठिन कार्य भी सहज हो सकते हैं। अपना मनोरथ भी सहज हो गया उसके सब उपकरण जुट गये। साथी और मार्ग-दर्शक भी थे। थके-मांदे पैरों में नया जीवन आया और ठंड सहन न कर सकने वाली दुर्बल काया भी तन कर खड़ी हो गई। ठिठुरते पैर आगे को बढ़ने लगे।

यात्रा अभियानों के वर्णन में बहुधा लेखक अपने व्यक्तिगत प्रसंगों की चर्चा अधिक करते हैं। इसमें आत्मश्लाघा बहुत रहती है—हमें वैसा कुछ भी न करके केवल वहां की परिस्थितियों का ही वर्णन करना है।

*** *** *** *** ***

गोमुख से ऊपर का अगम्य हिमालय चिरकाल से आवागमन रहित है। वहां जाने का कुछ प्रयोजन भी नहीं समझा जाता। गोमुख से दो मील ऊपर जहां तपोवन आरम्भ होता है वहां श्रावण, भाद्रपद महीनों में बड़ी कोमल और पौष्टिक वनस्पतियां उगती हैं। यदि भेड़, बकरियां, चर लें तो उनका स्वास्थ्य बहुत अच्छा हो जाता है, बच्चे मजबूत देती हैं और ऊन भी बहुत मुलायम निकलता है, इन लाभों को देखते हुए कभी-कभी कोई दुस्साहसी पहाड़ी बकरी वाले अपनी भेड़ें कुछ दिन के लिए उधर ले पहुंचते हैं। यह लोग भी गोमुख से दो-तीन मील ऊपर तक ही जाते हैं। इन्हें छोड़ कर और कभी मनुष्यों के दर्शन उधर नहीं होते। यह तपोवन क्षेत्र ही है जहां यह मनुष्य और पशु कभी-कभी देखे जाते हैं। जंगली भेड़ें जिन्हें बरड़ कहते हैं वे, कस्तुरी हिरन तथा भूरा भालू भी इस क्षेत्र में कभी-कभी विचरण करते नजर आते हैं। पेड़ एक नहीं केवल घास एवं वनस्पतियां हैं जिनमें से एक मन भावन गन्ध आती रहती है जो इस गन्ध की तेजी को सहन नहीं कर सकते हैं उनका सिर चकराने लगता है। इससे थोड़े आगे चलकर नन्दनवन है। यहां श्रावण, भाद्रपद के महीने वसन्त ऋतु माने जाते हैं। इन दो महीनों में ही यह वनस्पतियां उगती, बढ़ती, फूलती, पकती और समाप्त हो जाती हैं। आश्विन से बर्फ पड़ने लगती है, तब वह हरियाली भी समाप्त हो जाती है। यह हरियाली जब फूलती है तो इसमें सैकड़ों प्रकार के एक-से-एक बढ़कर सुन्दर फूल खिलते हैं। इनकी बनावट, विचित्रता और भिन्नता देखकर ऐसा लगता है जैसा किसी चतुर चित्रकार ने रंग-बिरंगे पुष्पों से सुसज्जित मखमली कालीन जमीन पर बिछा दिया हो।

नन्दनवन से लगा हुआ भागीरथी शिखर है। कहते हैं कि तपस्वी भागीरथ इस पर्वत के रूप में यहां सदा विराजमान रहते हैं। यह शिखर भी उतना ही सुन्दर है जितना कि उसके नीचे का मैदान नन्दनवन।

नन्दनवन देवताओं का वन माना जाता है। प्राचीनकाल में सम्भव है यहां कोई वृक्ष रहे हों, पर आज तो यह सुन्दर हरियाली ही शेष है, जिसे देखकर प्रकृति की इस अद्भुत कृति पर आश्चर्य होता है और विचार आता है कि आज यह छोटी हरियाली इतनी सुन्दर लगती है तो प्राचीन काल में जब यहां वृक्ष होंगे तो वे भी इतने ही सुन्दर होंगे, और उनके वातावरण में रहने वाले भी वैसे ही हो सुन्दर होते होंगे जैसे देवता चित्रण किये जाते हैं। रंग-बिरंगे फूलों के साथ रहने वाली तितली जब उन्हीं के रंग की वैसी ही सुन्दर हो जाती है तो इस नन्दनवन में विचरण करने वाली आत्माओं के वैसी ही सुन्दर होने में कोई सन्देह की बात नहीं है। इस धरती के नन्दनवन की शोभा के बारे में उल्लेख मिलता है कि—

अगहन गहनं वै लता विटपिवर्जितम् ।
प्रशांतमति गंभीर विशालं ग्राव संकुलम् ।।
कृष्णरक्तैः श्वेतपीतैः पुष्पैर्दिव्य मनोहरैः ।
इन्द्राणी केश भूषाभिः समाच्छन्नं समतंतः ।।

''यहां गहन वन नहीं है। लता, वृक्ष आदि कुछ भी नहीं है। प्रशान्त और अत्यन्त गम्भीर प्रदेश है। विशाल और शिलाओं से भरा हुआ है। इन्द्राणी के केशों में लगे आभूषणों जैसे मन को मोहित करने वाले रंग-बिरंगे फूल वहां खिले रहते हैं।''

अहो तत्रत्य सुषमां कोवा वर्णयितुं प्रभुः ।
इन्द्रोप्यक्षि सहस्त्रेण यां विलोकय न तृप्यति ।।

वहां की प्राकृतिक शोभा का वर्णन कौन कर सकता है? इस सौन्दर्य को इन्द्र अपने हजारों नेत्रों से देखकर भी तृप्त नहीं होता।

तपोवन में एक विशाल शिला के नीचे थोड़ी-सी आड़ ऐसी है कि उसके नीचे दस व्यक्ति विश्राम कर सकते हैं। कुछ गुफा जैसी स्थिति उसकी है। इसके अतिरिक्त इस प्रदेश में और कोई छाया का स्थान ऐसा नहीं है जिसके नीचे रात को विश्राम किया जा सके। पेड़ तो है ही नहीं। लकड़ी भी यहां नहीं मिलती। एक मोटे डंठल की वनस्पति ऐसी होती है कि उसके डंठलों को जलाकर अग्नि का कुछ प्रयोजन सिद्ध किया जा सकता है। तपोवन से सटा हुआ ही शिवलिंग शिखर है। इसका दृश्य कैलाश जैसा ही लगता है। इसे देखने पर ऐसा प्रतीत होता है मानो यह शिखर प्रकृति का बनाया हुआ एक विशाल शिवलिंग है जिसे किसी ने यहां विधिवत् स्थापित किया हो।

तपोवन से गोमुख की दिशा में मेरु शिखर है। इसके नीचे मेरु ग्लेशियर है जो केदार शिखर तक चला गया है। शिवलिंग शिखर से निकल कर स्वर्ग गंगा नामक एक छोटी-सी नदी बहती है। ऊपर से इसकी दो धारायें दो ओर में आती हैं, तपोवन के मध्य भाग में वे दोनों मिलकर गंगा-यमुना मिलने जैसा संगम बनाती हैं।

पुराणों में वर्णन आता है कि गंगा पहले स्वर्ग में निवास करती थीं पीछे भागीरथ के तप के कारण भूतल निवासियों का कल्याण करने के लिए नीचे आईं। यह दृश्य यहां प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। हिमालय के हृदय—धरती के स्वर्ग—में यह स्वर्ग गंगा बहती है। यही धारा गंगा ग्लेशियर में कुछ दूर के लिए विलीन होकर फिर नीचे गोमुख पर प्रकट होती है। शिवजी अपनी जटाओं में गंगा को धारण किये हुए हैं यह दृश्य भी शिवलिंग शिखर पर स्पष्ट है। यह स्वर्ग गंगा मेरु शिखर से निकलकर शिवलिंग के भाग को स्पर्श करती हुई तपोवन में प्रवाहित होती हैं।

तपोवन के अन्त में गंगा ग्लेशियर से सटा हुआ गौरी सरोवर है। यहां भगवती उमा शिव के समीप ही सरोवर रूप से विराजती हैं। कठोरता और करुणा का यह युग्म सब प्रकार वन्दनीय है। शिव और शक्ति यहां पर्वत और सरोवर के रूप में साकार हैं। एक को तप कहें तो दूसरे को भक्ति। एक ज्ञान है तो दूसरे को भावना कह सकते हैं। शिवलिंग पर्वत के समीप गौरी सरोवर का जोड़ा देखते-देखते भावनाशील हृदयों में साक्षात शिव-पार्वती के दर्शनों जैसा आह्लाद उत्पन्न होता है।

इस स्वर्गीय दृश्य को देखते-देखते गंगा ग्लेशियर के सहारे-सहारे कुछ मील और आगे बढ़ जाते हैं तो कीर्ति ग्लेशियर के कोने पर मान-सरोवर झील आ जाती है। लम्बाई-चौड़ाई में तिब्बत वाली मानसरोवर की बराबर यह नहीं है, पर निर्मलता, पवित्रता और दिव्य तत्वों की दृष्टि से यह स्वर्ग-सरोवर संसार के सभी जलाशयों की अपेक्षा अधिक शान्ति और पवित्रता प्रदान करने वाला है।

इतने क्षेत्र में विचरण करने पर भी अभी यहां की नीचे की भूमि पर से सुमेरु के दर्शन नहीं हो सकते हैं। किसी शिखर से दर्शन हो सकते हैं पर ऊपर चढ़ सकना सम्भव नहीं। चिकनी बर्फ और सीधी चढ़ाई होने के कारण बिना विशेष उपकरणों की सहायता के यहां के किसी शिखर की चोटी पर केवल पैरों के बल बूते चढ़ा नहीं जा सकता। इसलिये सुमेरु के दर्शन के लिए अभी गंगा ग्लेशियर में ही आगे बढ़ना होगा और 'गहन हिमिधारा' से 'वरुण वन' तक पहुंचना होगा। यहां से सुमेरु के दर्शन भली प्रकार होते हैं। वरुण वन में मिट्टी है, वहां निचाव होने के कारण पानी की नमी रहती है, नन्दनवन जैसी वनस्पतियां भी यहां हैं। इससे आगे का मार्ग जाने योग्य नहीं। चौखम्बा शिखर जिन पर पाण्डवों ने स्वर्गारोहण किया था यहां से दिखाई देते हैं। बस, दर्शनों का लोभ अब यहीं छोड़ना पड़ता है। इससे आगे का मार्ग अवरुद्ध है। अब यहां से ऊंचाई के साथ-साथ मार्ग की दुर्गमता भी अकथनीय होती है। इसलिए धरती का स्वर्ग देखने की आकांक्षा वाले को इतने से ही सन्तोष करके वापिस लौटना पड़ेगा।

अग्निपुराण के अनुसार शिवजी ने ताण्डव नृत्य यहीं किया था। जब यह दुनिया पापों के भार से इतनी डूब गई थी कि प्राणी यहां शान्तिपूर्वक न रह सकें तो उन्होंने अपना डमरू और त्रिशूल उठा कर थिरकन आरम्भ कर दिया था। उस ताण्डव नृत्य से प्रलय

उत्पन्न हो गई, प्रचण्ड अग्नि ज्वालाएं दसों दिशाओं में उठने लगीं और वह सब जिस पर पापी मानव इतराता फिरता था देखते-देखते क्षणभर में नष्ट हो गया। उस ताण्डव नृत्य का भूमि में पग-पग पर मन पूछता था, हे भूतभावन! अभी ताण्डव नृत्य में कितनी देर है, क्या पापी मानव के कुकर्मों का प्याला भरने में अभी भी कुछ देर बाकी है?

पुरातत्व वेत्ताओं ने मानव जाति की आदि उत्पत्ति मेरु पर्वत पर मानी है। आदम हव्वा का स्वर्ग से पृथ्वी पर आना भी इसी पर कहा जाता है। प्रलय के समय नूह की नाव की कथा तथा मारकण्डेय ऋषि को बालक के रूप में दर्शन होने की घटना भी इसी स्थान से सम्बन्धित बताई जाती है। इन सब विशेषताओं के कारण प्राचीनता के प्रति प्रेम रखने वाले किसी भावुक हृदय व्यक्ति के लिए ऐसा स्थान एक प्रकार की विशेष भावनाओं का उद्रेक करने वाला बन सकता है। अपने लिए भी इस भूमि के कण-कण में से अतीत की अनेकों महत्वपूर्ण घटनाएं अपने सुप्तस्वरूप को प्रकट करती हुई अन्तःकरण को भावनाओं में ओत-प्रोत कर रही हैं।

पुराणों में पढ़ा था कि सिद्ध योगी सद्गुरु अभी हैं पर कलियुग के प्रभाव से हिमालय के किसी गुप्त स्थान पर अदृश्य रूप में रहते हैं। गुरु गीता में ऐसे सद्गुरु का वर्णन आता है जो साधक के ज्ञान-चक्षु को खोल कर उसका अज्ञानान्धकार दूर कर देते हैं। ये गुरु स्वयं त्रिमूर्ति और पर ब्रह्म स्वरूप हैं। इन सद्गुरुओं का अजर-अमर ऋषि महर्षियों से ही तात्पर्य है जो अब युग प्रभाव से दिखाई नहीं पड़ते। लिंग पुराण के सातवें अध्याय में इन सद्गुरुओं का वर्णन है और उनका निवास हिमालय के सुमेरु पर्वत पर बताया गया है। श्रीमद्भागवत् के बारहवें स्कन्ध में दूसरे अध्याय के 37 वे श्लोक में इन सिद्ध पुरुषों का निवास स्थान कलाप ग्राम में बताया गया है। 10 वें स्कन्ध के अध्याय 87 में श्लोक 5, 6, 7 में भी ऐसा वर्णन है और महाभारत नौसल पर्व के अध्याय 7 में भी कलाप ग्राम में सिद्ध पुरुषों के निवास स्थान का वर्णन है।

वह सिद्ध भूमि यही है। उन अदृश्य आत्माओं के चर्मचक्षुओं से दर्शन कर सकना तो किन्हीं विरलों का ही सौभाग्य हो सकता है पर इस पुण्य प्रदेश में ऐसा अनुभव आवश्यक होता है कि जिस क्षेत्र में प्राचीन काल में इतनी ऊंची आत्माएं क्रीड़ा करती रही हैं वह आज भी उस पूर्व कालीन प्रभाव से सर्वथा रहित नहीं है। अश्रद्धालु और अविश्वासी तक यहां आस्तिकता की निष्ठा जमने के लायक बहुत कुछ अनुभव प्राप्त कर सकते हैं। श्रद्धा, शांति वैराग्य और विवेक को भावनाएं अपने आप ही अन्तःकरण में उद्वेलित होने लगती हैं और ऐसा अनुभव होता है मानो यहां बिखरी हुई कोई अदृश्य दिव्य शक्तियां इन भावनाओं को अपनी करुणा, दया और प्रगति का विश्वास दिलाने के लिए प्रसाद रूप में प्रदान कर रही हैं।

'धरती के स्वर्ग' प्रदेश का यह एक छोटा-सा भाग देखा गया। मुख्य केन्द्र स्थान सुमेरु के दर्शन मात्र किये गये। वहां तक पहुंचना सम्भव न हो सका, पर जितने क्षेत्र में प्रवेश किया गया, जो कुछ देखा गया वह भी अपनी तुच्छता और साधन हीनता को देखते हुए कम सौभाग्य की बात नहीं है। दूसरे लोगों को यहां पहुंचने पर कैसा अनुभव होगा यह कहना कठिन है, पर अपने को पूरी अनुभूति के साथ देव भूमि का अनुभव हुआ। प्राचीन काल में यहां सशरीर देवता रहते होंगे, आज वे इस सुनसान में चर्म-चक्षुओं से कहीं नहीं दीखे, पर ऐसा अनुभव बराबर होता रहा कि यहां देव तत्वों की एक प्रभावशाली सत्ता अब भी मौजूद है और वह अपनी उपस्थिति से अन्तःकरण को बार-बार आन्दोलित कर रही है। यहां की प्रत्येक वस्तु अपने अन्दर देवत्व धारण किए हुए है और उसमें से आत्म तत्व का सबल संदेश देने वाली दिव्य किरणें प्रबल वेग के साथ उद्भूत हो रही हैं। प्राचीन काल में भारत समस्त संसार को आध्यात्मवाद का संदेश देने वाला जगद्गुरु रहा है। लगता है उस संदेश का उद्गम तप-साधनाओं द्वारा उपलब्ध किया जाता होगा। भारत की आरण्यक संस्कृति पाप-तापों से जलते हुए प्राणी पर अमृत छिड़कती रहती है, कौन जाने आरण्यकों श्रेष्ठ में आरण्यक कभी यही हिमालय का हृदय—धरती का स्वर्ग प्रदेश ही न रहा होगा।

इस क्षेत्र में फैले हुए शिखरों की ऊंचाई और गहनता का अनुमान लगाने के लिये कौन स्थान कितना ऊंचा है यह जानने से स्थिति का सही अनुमान लगाने में सुगमता होगी। समुद्र तल से ऋषि केश लगभग 2000 फीट ऊंचा है। गंगोत्री 10।। हजार, गोमुख 12770, नन्दनवन 14230, भागीरथ पर्वत 22495, मेरु शिखर 21850, सत्पथ शिखर 23213, केदारनाथ शिखर 22770, सुमेरु 20770, स्वर्गारोहण शिखर 23880, चन्द्र पर्वत 22073, नीलकण्ठ शिखर 21640। इतने ऊंचे पर्वतों और शिखरों पर पहुंच सकना अत्यन्त उच्चकोटि के साधनों से सम्पन्न, लाखों रुपया खर्च करने वाले पर्वतारोही दलों का काम है। केवल शारीरिक बल और स्वल्प साधना सामग्री के आधार पर वरुण वन तक पहुंच सकना ही सम्भव है। यहां पहुंचने से धरती के स्वर्ग के प्रायः सभी प्रमुख दिव्य स्थानों के दर्शन हो जाते हैं।

एवरेस्ट शिखर पर चढ़ने के लिये भारत सरकार की सहायता से 13 व्यक्तियों का एक दल गया था, जिसे 18 टन (लगभग 500 मन) आवश्यक उपकरण अपने साथ ले जाने पड़े थे और इस सामान को ढोने को 650 कुली तथा मार्ग बनाने के लिये 52 शेरपा साथ गये थे। लाखों रुपया खर्च हुआ था। अन्य पर्वतारोही दलों को भी ऐसी ही व्यवस्था करनी पड़ती है। केदार शिखर पर स्विट्जरलैंड का एक दल चढ़ाई कर भी चुका है पर कहते हैं कि उसे सफलता नहीं मिली। इसलिए इन शिखरों पर पहुंच सकना, निस्संदेह कठिन है पर जितना अपनी इस यात्रा में पहुंच सकना सम्भव हुआ वह भी धार्मिक भावना से जाने वाले व्यक्ति के लिये कम सन्तोषजनक नहीं है।

इस पुण्य प्रदेश में पहुंचने पर किसी भौतिक दृष्टिकोण के व्यक्ति के मन में सम्भव है पत्थर, बर्फ, घास, पानी तथा प्रकृति की थोड़ी भी सुन्दरता मात्र ही दृष्टि गोचर हो, पर जिसके हृदय में श्रद्धा है उसके लिए उस श्रद्धा-भावना को पुष्ट और विकसित करने के लिए यहां बहुत कुछ है। अन्तःकरण के सात्विक तत्व यहां के दिव्य वातावरण में बड़ी तीव्र गति से विकसित होते हैं और उसे लगता है मानो इस पृथ्वी का समस्त सतोगुण एकत्रित होकर उसकी अन्तरात्मा में प्रवेश कर रहा है। मन की एकाग्रता और बुद्धि में स्थिरता उत्पन्न होती है, आध्यात्मिक अभिरुचि, पापों से घृणा, ईश्वरीय निष्ठा, आत्म परायणता एवं भक्ति-भावना की हिलोरें अनायास ही हृदय में उठने लगती हैं। सत्यं, शिवं, सुन्दरं की झांकी अपने चारों ओर होती है। प्राकृतिक सौन्दर्य का अटूट भण्डार दिखाई पड़ता है। इस शोभा को लेखनी तथा वाणी से अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता यह तो अनुभव करने की चील है। इस वातावरण की झांकी नीचे देखिए—

देव सेव्यं च तत्स्थानं दैवतानां च दुर्लभम् ।
महा पुण्य महोपुण्य पूरषैरव लौकितम् ।।
नैतत् कवेल मक्षाणां सदैवह्लादकं मुने ।
सर्व पुण्य महातीर्थ मूर्द्ध भूषेति विद्धितत् ।।

"यह स्थान देवताओं द्वारा सेवनीय, परम दुर्लभ और महान् पुण्यप्रद है। इसे पुण्यात्मा लोग ही अवलोकन करते हैं। हे नारद! यह स्थान केवल इन्द्रियों को सुख प्रदान करने वाला ही नहीं, किन्तु उसे समस्त महान् तीर्थों का शिरोमणि जानो।"

तथाह्नि कलधौताभैः सायंच कनक प्रभैः ।
प्रहर्षयति या चित्तं पर्वताग्रैर लौकिकैः ।।
किमयं तपनीयाद्रिः किंवा रजत पर्वतः ।
इति संदेहा तो यत्र बाढ मुह्यान्ति मानवः ।।

''दिन में चांदी के प्रकाश वाले और सायं सुवर्ण के प्रकाश वाले दिव्य पर्वत शिखरों से चित्त को अत्यन्त आह्लाद प्राप्त होता है। मनुष्य सन्देहग्रस्त होकर सोचता है कि क्या यह सोने का पर्वत है? क्या यह चांदी का पर्वत है?''

प्रातः और सायंकाल जब सूर्य पीत और रक्त वर्ण होता है तो उसकी आभा के प्रतिबिम्ब से हिमाच्छादित शिखर सूर्य के रंग के तथा अपनी स्थिति और विशेषताओं के कारण विविध रंगों के दिखाई पड़ते हैं। इन्द्र धनुष की झांकी जगह-जगह होती है। उस दृश्य को देखकर उस सौन्दर्य समुद्र में मनुष्य अपने को खोया-खोया सा अनुभव करता है।

सौन्दर्य ब्रह्मणो रूपं प्रकृत्या मनु वर्तते।
प्रकृतेर्नास्ति सौन्दर्य स्वरूपात्मको गुणाः ॥
तादृशास्तादृशे स्थाने ब्रह्म सौन्दर्य दीपिते।
ब्रह्मसम्पत्ति मायान्ति भावाविष्टधियोबलात् ॥

''सौन्दर्य ब्रह्म का ही स्वरूप है। प्रकृति स्वयं सुन्दर नहीं है वह ब्रह्म के प्रकाश से ही सौन्दर्यवान होती है। ब्रह्म-सौन्दर्य से सम्पन्न ऐसे पुण्य स्थानों में ब्रह्मवित् लोग भावाविष्ट होकर स्वयमेव ब्रह्म समाधि को प्राप्त हो जाते हैं।''

जिस आत्म स्थिति को प्राप्त करने के लिए बहुत समय तक साधना करने के उपरान्त सफलता मिलती है, वह इस वातावरण में प्रवेश करने पर कुछ समय के लिये अनायास ही उपलब्ध होती है। इन विशेषताओं को देखते हुए यदि इस देवभूमि में नन्दनवन के समीप ही ऋषियों तथा देवताओं ने तपोवन को तप साधना के लिए अपना उपयुक्त स्थान चुना था तो उनका यह निर्णय उचित ही था।

आज मनुष्यों की शारीरिक और मानसिक स्थिति वहां निवास करने योग्य नहीं है। पूर्वकाल की भांति अब वहां वृक्ष तथा जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक साधन भी नहीं रहे हैं, फिर भी इस पुण्य प्रदेश के दर्शन करके अपने भाग्य को धन्य बना सकना अभी भी मनुष्य की सामर्थ्य के भीतर है। हम में से कई ऐसे साहसी जिनका स्वास्थ्य ठीक स्थिति में है आवश्यक उपकरणों के सहारे यहां तक पहुंच सकते हैं।

*** *** *** *** ***

कैलाश वासी शंकर के सिर से गंगा प्रवाहित होती है। इसकी संगति तिब्बत में स्थित कैलाश पर्वत से नहीं मिलती। क्योंकि वहां से गंगा का गोमुख तक आना भौगोलिक स्थिति के कारण किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है। गंगोत्री से जेलूखागा घाटी होकर कैलाश करीब 300 मील है। फिर बीच में कई आड़ पहाड़ आये हैं जिसके कारण भी कोई जलधारा या हिमिधारा वहां तक नहीं आ सकती। असली शिव लोक इस धरती के स्वर्ग में ही हो सकता है। गंगा ग्लेशियर शिवलिंग के समीप है। स्वर्ग गंगा भी वहीं है। गौरी सरोवर वहां मौजूद ही है। इस प्रकार गंगा धारण करने वाले शिव का कैलाश यह हिमालय का हृदय ही हो सकता है। यदि प्राचीन कैलाश यहां न रहा होता तो भागीरथ जी यहां तप क्यों करते? वे तिब्बत वाले कैलाश पर ही शिव के समीप क्यों न जाते? इस पुण्य प्रदेश में शिवलिंग, केदार शिखर और नीलकण्ठ शिखर यह तीनों ही शिवजी के निवास हैं। मानसरोवर का भी इस देवभूमि में होना स्वाभाविक है। सुरालय, हिमिधारा, सत्पथ हिमिधारा तथा वरुण वन नामों से भी इसी प्रदेश का देवभूमि होना सिद्ध है। अष्ट वसुओं ने जिस स्थान को अपना निवास बनाया वह वसुधारा भी अलकापुरी के पास ही है। इन सब बातों पर विचार करने से वास्तविक कैलाश और मानसरोवर इसी प्रदेश में अवस्थित सिद्ध होते हैं।

आजकल का तिब्बत प्रदेश वाला कैलाश अब विदेशी प्रतिबन्धों के कारण यात्रा की दृष्टि से दिन-दिन असुविधा जनक हो रहा है। वहां डाकुओं का भी भय सदा रहता है। दूरी भी बहुत है। उस प्रदेश में भारतीय वातावरण भी नहीं है, न अपनी भाषा न

संस्कृति। वहां जाकर विदेश-सा अनुभव होता है। जिस समय भारत की संस्कृति का वहां तक विस्तार रहा था उस समय वह तीर्थ भी उपयुक्त रहा होगा, पर शिव का वास्तविक निवास, गंगा का वास्तविक उद्गम और सच्ची आध्यात्मिक मानसरोवर का दर्शन करना हो तो हमें इस हिमालय के हृदय-धरती के स्वर्ग में वास्तविक कैलाश की खोज करनी पड़ेगी। परीक्षा के लिए कोई व्यक्ति तिब्बत वाले कैलाश और इस हिमालय के हृदय वाले कैलाश की यात्रा करके देखे, वह स्वयं अनुभव करेगा कि धरती के स्वर्ग प्रदेश वाला कैलाश कितना शान्तिप्रद एवं कितने दिव्य वातावरण से परिपूर्ण है। यदि भारत सरकार या धनीमानी सज्जन इस मार्ग को ठीक करने और दो-तीन जगह ठहरने योग्य सुविधा उत्पन्न कर सकें तो आध्यात्मिक यात्रा प्रेमियों और पर्वतारोहण में अभिरुचि रखने वाले सामान्य स्थिति के लोगों के लिए भी यह प्रदेश पहुंचने योग्य बन सकता है और इस प्रदेश के गरीब मजदूरों को यात्रियों के साथ जाने आजीविका का भी एक द्वार खुल सकता है।

*** *** *** *** ***

इसी प्रदेश के उत्तर भाग से बद्रीनाथ जाने का एक भाग खोज निकाला गया है। वैसे गोमुख से वर्तमान प्रचलित मार्ग से बद्रीनाथ 250 मील है पर इस सीधे मार्ग से 25 मील ही है। गत दो-तीन वर्षों में कई दुस्साहसी सन्तों के दल इस मार्ग से बद्रीनाथ यात्रा कर भी चुके हैं। स्विटजरलैण्ड के पर्वतारोही दल के साथ मुखवा गांव का दलीपसिंह नामक एक कुली गया था, उसने इस मार्ग की जानकारी प्राप्त की, फिर उसके नेतृत्व में दो तीन अभियान हुए, जो सफलता पूर्वक अपने लक्ष तक पहुंचे। गोमुख से रवाना होकर पहले दिन तपोवन की शिला गुफा में, दूसरे दिन सीता ग्लेशियर, तीसरे दिन चतुरंगी ग्लेशियर के ऊपर, चौथे दिन अरबा नदी के किनारे, पांचवे दिन गस्तोती माना गांव होते हुए बद्रीनाथ पहुंच जाते हैं। खुले मैदान में छोटा-सा टेण्ट लगाकर चारों ओर के प्रचण्ड शीत के वातावरण में रात काटना मृत्यु से लड़ाई-लड़ने के समान है। फिर भी थकान के मारे घन्टे दो घन्टे पेट में घोंटू देकर नींद आ ही जाती है। साथ-साथ लोग एक दूसरे से सटकर भी कुछ गर्मी उत्पन्न करते हैं। शरीर का जो भी अंग खुला रह जाता है वहीं ऐसा लगता है मानो गलने लगा। केवल श्रद्धा और साहस ही यहां मनुष्य को सावधान रखते हैं अन्यथा यदि यात्री यहां की भयंकरता से डरने लगे और अपना मानसिक सन्तुलन खो बैठे तो उसकी भी पांडवों की तरह हिमि-समाधि हो जाना सहज है।

इस मार्ग में 20 हजार फुट की ऊंचाई चन्द्र पर्वत के निकट पार करनी पड़ती है। अधिक ऊंचाई पर हवा कम हो जाने से सिर में चक्कर आते हैं, मन उदास रहता है। पक्की बर्फ के दरारों के ऊपर कच्ची बर्फ जम जाती है तो नीचे की दरारें दिखाई नहीं पड़तीं और उनमें फंस कर प्राण गंवा बैठने का खतरा रहता है। इसलिए यात्री आपस में कमर से रस्सियां बांध कर दूर-दूर, अलग-अलग चलते हैं ताकि कोई एक उन दरारों में फंसे तो उस रस्सी के कारण इन खाइयों में धंस जाने से बचाया जा सके। इस मार्ग में कई जगह बर्फ फिसल कर रास्ता तय करना पड़ता है। प्रातः जब ठण्ड में बर्फ जमी रहती है तब तक मार्ग चला जाता है, जब धूप निकलने से कच्चा बर्फ नरम हो जाती है और पिघलने लगती है तो पैर फंसते हैं। फिर यात्रा बन्द करनी पड़ती है। शाम को 4 बजे से बादल घिर आते हैं तब पास बैठे हुए व्यक्ति भी दीखते नहीं। कुहरा और अंधेरा छा जाता है। खाने के लिए नमकीन सत्तू और नमकीन चाय पर रहना पड़ता है। स्टोव यहां का सच्चा साथी है। उस पर बार-बार चाय बनाकर थकान उतारनी पड़ती है। दूध की जगह पर मक्खन और चीनी की जगह पर नमक डालने से काम चलाऊ चाय बन जाती है। बर्फ रात को काफी कड़ी हो जाती है उस पर कम्बल बिछा कर सोया जा सकता है। ठण्ड काफी रहती है, ऊनी कपड़े, स्वेटर, मोजे, दस्ताने, जूते, मफलर, टोपा दिनरात कसे रहते हैं। शरीर खोलने और स्नान करने का तो यहां प्रश्न ही नहीं है। बर्फ सूरज की धूप में कांच की तरह चमकती है तो इसके प्रतिबिम्ब से आंखें खराब हो जाती हैं। इसलिए दिन के समय गहरा रंगीन चश्मा पहने रहना पड़ता है। ऊंचे पर्वतों पर पानी नहीं। वहां तो स्टोव से बर्फ

पिघला कर काम चलाना पड़ता है। दोपहर को बर्फ पिघलने से भी छोटे गड्ढों में जहां तहां कुछ देर के लिए पानी भर जाता है। उसे भी उस समय काम लिया जा सकता है। हवा की कमी अनुभव होती है, दम फूलता है, सांस जल्दी लेना पड़ता है, रास्ता बना हुआ न होने से अनुमान और कम्पास के सहारे चलना पड़ता है। थोड़ा भी वजन ले चलना अनभ्यस्त लोगों के लिए कठिन होता है, इसके लिए अभ्यस्त कुली ही सहायक होते हैं। इस प्रकार की अनेकों कठिनाईयां उस विकट क्षेत्र में हैं, पर साहस, धैर्य और श्रद्धा के आधार पर वे सभी पार हो जाती हैं। अब तक के इन यात्रा अभियानों में कोई जीवन हानि नहीं हुई।

----***----

हिमालय का हृदय-धरती का स्वर्ग

****

बहुत दिन पूर्व किसी मासिक पत्रिका में एक लेख पढ़ा था जिसका शीर्षक था—''स्वर्ग इस पृथ्वी पर ही था।'' लेखक ने धार्मिक या आध्यात्मिक दृष्टि से नहीं यह लेख भूगोल और इतिहास को दृष्टि में रखकर लिखा था। उसमें अनेकों युक्तियों से यह सिद्ध किया था कि—''हिमालय का मध्य भाग प्राचीन काल में स्वर्ग कहलाता था। आर्य लोग मध्य एशिया से तिब्बत होकर भारत में आये थे। उन दिनों हिमालय इतना ठंडा न था, पिछली हिम-प्रलय के बाद वह हिमाच्छादित हो जाने के कारण मनुष्यों के लिए दुर्गम हुआ है। इससे पूर्व वहां का वातावरण मनुष्यों के रहने योग्य ही नहीं, अनेक दृष्टियों से अत्यन्त सुविधाजनक एवं शोभायमान भी था। इसलिए आर्यों के प्रमुख नेतागण—जिन्हें देव कहते थे—इसी भूमि में निवास करने लगे। गंगा यमुना के दुआवा, आर्यवर्त और जम्बूदीप में बसे हुए अपने साथियों और अनुयायियों का मार्ग दर्शन वे यहीं रहकर करते थे। सम्पत्ति, आयुध ग्रन्थ तथा अन्य आवश्यक उपकरण वे यहीं सुरक्षित रखते थे ताकि आवश्यकतानुसार तथा समयानुसार उनका उपयोग समतल भूमि निवासियों के लिए होता रहे और वे वस्तुएं युद्ध के समय दस्युओं, असुरों—अनार्यों के हाथ न लगने पावें। देवताओं के राजा को पदवी 'इन्द्र' होती थी। प्रत्येक इन्द्र का सिंहासन इस हिमालय के हृदय प्रदेश—स्वर्ग में ही होता था।''

इस लेख में यद्यपि अनेकों प्रबल युक्तियां थीं, पर उस समय वे अपने मन में उतरती नहीं थीं, क्योंकि जिस स्वर्ग की इतनी महिमा गाई गई है, जिसे प्राप्त करने के लिए हम इतना त्याग और तप करते हैं क्या वह इसी पृथ्वी का एक साधारण क्षेत्र मात्र होगा? फिर स्वर्ग को एक लोक कहा गया है। लोक का अर्थ है, पृथ्वी से बहुत दूर अंतरिक्ष में स्थित कोई ग्रह नक्षत्र जैसा स्थान। इसके अतिरिक्त मानव की अन्तरात्मा में अनुभव होने वाली सुख-शान्ति को भी स्वर्ग माना जाता है। फिर हिमालय के एक भाग विशेष को स्वर्ग कैसे माना जाय?

लेकिन उसे पढ़कर यह एक बात कुछ समझ में आई कि आध्यात्मिक दृष्टि से स्वर्ग कोई लोक विशेष हो सकता है, सुख-शान्ति की अमुक आन्तरिक स्थिति को भी स्वर्ग कहा जा सकता है पर यही शब्द पृथ्वी के किसी महत्वपूर्ण भाग के लिए प्रयुक्त हुआ हो ऐसा भी हो सकता है। इस तथ्य पर विचार किया तो कई ऐसी बातें सूझ पड़ी जो पृथ्वी पर स्वर्ग होने की संभावना को प्रकट करती हैं।

राजा दशरथ अपनी पत्नी समेत इन्द्र की सहायता के लिए अपने रथ पर सवार होकर स्वर्ग गये थे। जब रथ का पहिया धुरी में से निकलने लगा तब साथ में बैठी हुई कैकयी ने अपनी उंगली धुरी के छेद में डालकर रथ को टूटने से बचाया था। एक बार अर्जुन भी इन्द्र की सहायता के लिए स्वर्ग गये थे, तब इन्द्र ने उर्वसी अप्सरा को उनके पास भेजकर उन्हें प्रसन्न करने का प्रयत्न किया था। एक बार इन्द्र का इन्द्रासन खाली होने पर नीचे से राजा नुहुष को वहां ले जाया गया और उन्हें वहां बिठाया गया था। त्रिशंकु भी सशरीर वहां पहुंचे थे। राजा ययाति सशरीर स्वर्ग गये थे। पर जब उन्होंने वहां अपने पुण्यों की बहुत प्रशंसा करनी आरम्भ की तो उनके पुण्य क्षीण हो गये और उन्हें स्वर्ग से नीचे ढकेल दिया गया। देवर्षि नारद बहुधा देवसभा में आया-जाया करते थे। इस प्रकार के अनेकों उदाहरण ऐसे हैं जिनसे स्वर्ग में मनुष्यों का सशरीर जाना सिद्ध होता है। देवता तो प्रायः नीचे आया ही करते थे। रामायण और भागवत में पचासों जगह देवताओं के पृथ्वी पर आने और मनुष्यों से सम्पर्क स्थापित करने के वर्णन आते हैं। अप्सराएं स्वर्ग से ऋषियों के आश्रमों में आती थीं और कइयों को मोहित करके उनके साथ रहतीं तथा सन्तान उत्पन्न करती थीं। श्रृंगी श्रृंषि को उनने

मोहित किया था, विश्वामित्र के साथ रहकर मेनका ने शकुन्तला को जन्म दिया था। यह सूक्ष्म शक्ति वाले—सूक्ष्म रूप वाले—देवी-देवताओं का वर्णन नहीं है वरन् उनका है जो मनुष्यों की तरह ही शरीर धारण किये थे। चन्द्रमा और इन्द्र ने ऋषि पत्नियों से व्यभिचार किया और फलस्वरूप उन्हें शाप का भागी भी होना पड़ा था।

इन घटनाओं पर विचार करने पर ऐसा लगता है कि यदि स्वर्ग नामक कोई स्थान पृथ्वी पर भी रहा हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। यदि ऐसा न होता तो देवताओं का पृथ्वी पर और भूलोक वासियों का स्वर्ग में पहुंचना कैसे सम्भव रहा होता?

पुराणों में सुमेरु पर्वत का विस्तृत वर्णन आता है जिसमें कहा गया है कि देवता सुमेरु पर्वत पर रहते थे। पातंजलि योग प्रदीप में इसका वर्णन इस प्रकार किया गया है—''मध्य में सुवर्णमय पर्वत राज सुमेरु विराजमान है। उस सुमेरु पर्वत राज के चारों दिशाओं में चार श्रृंग (पहाड़ की चोटी) हैं। उनमें जो पूर्व दिशा में श्रृंग है वह रजतमय है। दक्षिण दिशा में जो है वह वैदूर्यमणिमय है, जो पश्चिम दिशा में श्रृंग है वह स्फटिकमय (प्रतिबिम्ब ग्रहण करने वाला) है और जो उत्तर दिशा में श्रृंग है वह सुवर्णमय (सुवर्ण के रंग वाले पुष्प विशेष के वर्ण वाला) है। .....सुमेरु पर्वत देवताओं की उद्यान भूमि है, जहां मिश्रवन, नन्दनवन, चैत्ररथ वन, सुमानसवन—चार वन हैं। सुमेरु के ऊपर सुधर्म नामक देवसभा है, सुदर्शन नामक पुर है और वैजयनत नामक प्रासाद (देवमहल) है।..... इसके ऊपर स्वर्ग लोक है जिसको महेन्द्रलोक कहते हैं। इसमें त्रिदश, अग्निष्वात, याम्य, तुषित, अपरिनिर्मित वशवर्ती, परिनिर्मित वशवर्ती ये छह देवयोनि विशेष निवास करते हैं। ये सब देवता संकल्प सिद्ध अणिमादि ऐश्वर्य सम्पन्न और कल्पायुष वाले तथा वृन्दारक (पूजने योग्य) कामभोग और औपपादिक देह वाले हैं और उत्तम अनुकूल अप्सराएं इनकी स्त्रियां हैं।..... सुमेरु अर्थात् हिमालय पर्वत उस समय भी ऊंची कोटि के योगियों के तप का स्थान था।''

महाभारत में पाण्डवों के स्वर्गारोहण का विस्तार पूर्वक वर्णन है। स्वर्ग जाने के लिए द्रौपदी समेत पांचों पाण्डव हिमालय में गये हैं। अन्य सब तो बीच में ही शरीर त्यागते गये पर युधिष्ठिर सर्वोच्च शिखर पर पहुंच कर सशरीर स्वर्ग जाने में समर्थ हुए हैं। इन्द्र का विमान उन्हें स्वर्ग को ले गया है। यह स्वर्गारोहण स्थान सुमेरु पर्वत के समीप ही है। बद्रीनाथ से आगे तेरह मील चलने पर सीढ़ियों की तरह एक के ऊपर यह एक स्वर्गारोहण शिखर दिखाई पड़ते हैं। इन्हें स्वर्ग की सीढ़ियां भी कहते हैं चौखम्भा शिखरों को भी स्वर्ग की सीढ़ी कहा जाता है। इस प्रदेश में पहले यक्ष, गन्धर्व, किन्नर रहते थे, जिनने स्वर्गारोहण के लिए जाती हुई द्रौपदी का अपहरण कर लिया था। भीम ने उनसे युद्ध करके द्रौपदी को छुड़ाया था।

पुराणों में सुमेरु के स्वर्णमय होने का वर्णन है। कवियों ने स्थान-स्थान पर सोने के पहाड़ के रूप में सुमेरु की उपमा दी है। अब भी इस हिमाच्छादित सुमेरु पर्वत पर पीली सुनहरी आभा दृष्टिगोचर होती है। देवताओं के कोषाध्यक्ष कुबेर देवता की नगरी अकलापुरी यहां से समीप ही है। अलकनन्दा के उद्गम स्थल को अलकापुरी कहा जाता है। इससे भी इस प्रदेश में स्वर्ग होने की बात पुष्ट होती है।

सुमेरु पर्वत, स्वर्गारोहण, अलकापुरी, नन्दनवन यह सभी स्थान हिमालय के उस भाग में आज भी मौजूद हैं। इसे ही हिमालय का हृदय कहते हैं। इस स्थान को यदि प्राचीनकाल में स्वर्ग कहा जाता हो तो असम्भव नहीं है। गंगाजी का उद्गम भी यह पुण्य क्षेत्र है। पुराणों में वर्णन है कि गंगा स्वर्ग से नीचे उतरीं। गंगा ग्लेशियर इसी प्रदेश में फैला हुआ है। भगवती शिवजी के मस्तक पर उतरीं इस आख्यान की भी पुष्टि इस तरह होती है कि शिवलिंग शिखर गोमुख से ऊपर है। गंगा वहीं होकर आती है। शिवलिंग शिखर के पास ही नन्दनवन है। नन्दनवन स्वर्ग में ही था इसका वर्णन पुराणों में आता है। नन्दिनी नदी यहीं बहती है। स्वर्ग में रहने वाली कामधेनु की पुत्री नन्दिनी के साथ इस नदी की कुछ संगति बैठती है। चन्द्र पर्वत इसी प्रदेश में है। कहते हैं चन्द्रमा इसी पर्वत पर

निवास किया करते थे। बद्रीनाथ क्षेत्र से मिले हुए सूर्य कुण्ड, वरुण कुण्ड, गणेश कुण्ड अब भी मौजूद हैं, कहते हैं कि इन देवताओं का निवास इन-इन प्रदेशों में रहता था। केदार शिखर होकर इन्द्र का हाथी ऐरावत नीचे जाया करता था ऐसे वर्णन मिलते हैं। एक बार ऐरावत पर चढ़े हुए इन्द्र दुर्वासा ऋषि के आश्रम के समीप होकर गुजरे और ऋषि के स्वागत का तिरस्कार किया तो उन्हें ऋषि ने शाप दे दिया था।

*** *** *** *** ***

गंगोत्री से गोमुख की ओर चलते हुए मार्ग में यह विचार आया कि यदि किसी प्रकार सम्भव हो सके तो इस धरती के स्वर्ग के दर्शन करने चाहिए। भावना धीरे-धीरे अत्यन्त प्रबल होती जाती थी पर इसका उपाय न सूझ पड़ता था। गोमुख से आगे वह धरती का स्वर्ग आरम्भ होता है। मीलों की दृष्टि से इसकी लम्बाई चौड़ाई बहुत नहीं है। लगभग 30 मील चौड़ा और इतना ही लम्बा यह प्रदेश है। यदि किसी प्रकार इसे पार करना संभव हो तो बद्रीनाथ, केदारनाथ इसके बिलकुल नीचे ही सटे हुए हैं। यों बद्रीनाथ गोमुख से पैदल के रास्ते लगभग 250 मील है पर इस दुर्गम रास्ते से तो 25 मील ही है। ऊंचाई की अधिकता, पर्वतों के ऊबड़ खाबड़ होने के कारण चलने लायक मार्ग न मिलना तथा शीत अत्यधिक होने के कारण सदा बर्फ जमा रहना, रास्ते में जल, छाया, भोजन, ईंधन आदि की कुछ भी व्यवस्था न होने आदि कितने ही कारण ऐसे हैं जिनसे वह प्रदेश मनुष्य की पहुंच से बाहर माना गया है। यदि ऐसा न होता तो गंगोत्री, गोमुख आने वाले 250 मील का लम्बा रास्ता क्यों पार करते? इस 25 मील से ही क्यों न निकल जाते?

इस मार्ग से कितने ही वर्ष पूर्व स्विट्जरलैण्ड के पर्वतारोही दल ने चढ़ने का प्रयत्न किया था। उसे उस आरोहण में काफी कठिनाई का सामना करना पड़ा था। सुना था कि शिवलिंग पर चढ़ते हुए दल के एक कुली का पैर टूट गया था और एक आरोही केदार शिखर पर चढ़ते हुए बर्फ की गहरी दरारों में फंस कर अपने प्राण गंवा बैठा था। फिर भी उस दल ने वह मार्ग पार कर लिया था। इसके बाद दुस्साहसी हिम अभ्यस्त महात्माओं के एक दो दल भी उस दुर्गम प्रदेश को पार करके बद्रीनाथ के दर्शन कर चुके हैं।

साहस ने कहा—"यदि दूसरे इस मार्ग को पार कर चुके हैं तो हम क्यों पार नहीं कर सकते?" बुद्धि ने उत्तर दिया—"उन जैसी शारीरिक और मानसिक सामर्थ्य अपनी न हो, ऐसे प्रदेशों का अभ्यास और अनुभव भी न हो तो फिर किसी का अन्ध अनुकरण करना बुद्धिमत्ता नहीं है।" भावना बोली—"अधिक से अधिक जीवन का खतरा ही तो हो सकता है यह कोई बहुत बड़ी बात नहीं है। कहते भी हैं कि स्वर्ग अपने मरने से ही दीखता है। यदि इस धरती के स्वर्ग को देखने में प्राण संकट का खतरा मोल लेना पड़ता है तो कोई बड़ी बात नहीं है। उसे उठा लेने में संकोच न करना चाहिए।" व्यवहारिकता पूछती थी—"चल भी दिये तो रास्ता कौन दिखायेगा? उतनी सर्दी को शरीर कैसे सहन करेगा? सोने और खाने-पीने की क्या व्यवस्था होगी? अब तक समुद्रतल से 11 हजार फुट ऊंचाई चढ़ी गई है। ऋषिकेश से यहां तक आने में 170 मील में 9 हजार फुट चढ़े जिससे पैरों के देवता कूच कर गये हैं। अब आगे 12 मील के भीतर 9 हजार फुट और चढ़ना पड़ेगा तो उस चढ़ाई की दुर्गमता पैरों के बस से सर्वथा बाहर की बात होगी।"

इस प्रकार अर्न्तद्वन्द चल रहा था। निर्णय कुछ नहीं हो पा रहा था। प्रश्न केवल साहस का ही न था, अपनी सीमित शक्ति के भीतर भी वह सब है या नहीं, यह भी विचार करना था। मस्तिष्क सारी शक्ति लगाकर समस्या का हर खोज रहा था, पर कोई उपाय सूझ नहीं पड़ता था। अन्तरात्मा कहती थी कि—"अब धरती के स्वर्ग के बिलकुल किनारे पर आ गये तो उसके भीतर प्रवेश करने का लाभ भी लेना चाहिये। गंगातट पर से प्यासे लौटने में कौन समझदारी है। मरने पर स्वर्ग मिला या न मिला कौन जाने। यहां बिल्कुल ही समीप धरती का स्वर्ग मौजूद है तो उसका लाभ क्यों नहीं लेना चाहिये?"

स्मरण शक्ति ने इस दुर्गम पथ की स्थिति बताने वाला एक प्राचीन श्लोक उपस्थित कर दिया—

तत ऊर्ध्वंतु भूमीद्ध्रा मर्त्य संचार दूरणाः ।
आच्छन्नाः संततस्थापि घनोत्तुङ्ग महाहिमै ।।
गोमुखी तो विशाला दूर्नाति दूरे विराजते ।
तत्रायं गमने मार्गः सिद्धानां चामृतांधसाम् ।।

''उस (गोमुख) से आगे के पर्वत अतीवस घन, ऊंचे और भारी बर्फ से ढके हैं। वे मनुष्य की पहुंच से बाहर हैं। उस ओर से बद्रीनारायण पुरी बहुत दूर नहीं है, लेकिन वह मार्ग मनुष्य के लिए असम्भव है, वह सिद्ध और देवताओं का मार्ग है। इस मार्ग से वे ही जाते हैं।''

''अपने ऐसे भाग्य कहां जो इस सिद्ध और देवताओं की मार्ग पर चल सकें।'' इस प्रकार की निराशा बार-बार मन में आती थी, पर साथ ही आशा की एक बिजली भी कौंधती थी और कोई कहता था कि—''जाकी कृपा पंगु गिरि लंघहि, रंक चलें शिर छत्र धराई'' वाली कृपा उपलब्ध होती है तो यह भूतल का दुर्गम प्रदेश ही क्या और भी ऊंचे से ऊंचे स्तरों को पार और प्राप्त किया जा सकता है।''

यह भाव जैसे-जैसे प्रबल होते गये वैसे-वैसे ही अन्तःकरण में एक नवीन आशा और उत्साह का संचार होता गया। सर्वशक्तिमान की सत्ता कैसी अपरम्पार है कि वह कामना पूर्ण होकर रही, वह दिन भी आया जब उस पुण्य प्रदेश में प्रवेश करके वह तन सार्थक बना। न भूलने योग्य उन क्षणों का जब भी स्मरण हो जाता है तब रोमांच खड़े हो जाते हैं, आत्मा पुलकित हो उठती है और सोचता हूं कि प्रभु! यदि उन्हीं आनन्दमय क्षणों में चिरशान्ति प्राप्त हो जाती तो कितना उत्तम होता। पर जो कर्मफल अभी और भोगना है उसे कौन भोगता, यह सोच कर किसी प्रकार मन को समझाना ही पड़ता है।

*** *** *** *** ***

इस पुण्य प्रदेश हिमालय के हृदय और धरती के स्वर्ग की यात्रा और स्थिति का वर्णन करने से पूर्व इस क्षेत्र की महत्ता पर विचार करेंगे। जिस प्रकार हृदय में स्थिर रक्त, धमनियों के द्वारा सारे शरीर में फैलता है, जैसे उत्तर ध्रुव का चुंबकत्व सारी पृथ्वी पर अपना आकर्षण फैलाये हुए है, लगता है कि उसी प्रकार हिमालय का यह हृदय अपने दिव्य स्पन्दनों के दूर-दूर तक आध्यात्म तरंगों को प्रवाहित करता है।

जिस प्रकार हृदय के ऊपर कितने ही प्रकार के स्वर्ण रत्नों से जटित आभूषण धारण किये जाते हैं, उसी प्रकार इस हिमालय के हृदय के चारों ओर एक घेरे के रूप में कितने कितने ही महत्वपूर्ण तीर्थों की एक सुन्दर श्रृंखला पहनाई हुई है। महाभारत के बाद जो तीर्थ इस क्षेत्र में अस्त-व्यस्त हो गये थे उनका पुनरुद्धार करने की प्रेरणा जगद्गुरु आद्य शंकराचार्य को हुई और उन्होंने कठिन प्रयत्न करके उन तीर्थों को पुनः स्थापित कराया। जिस प्रकार चैतन्य महाप्रभु ने बृजभूमि के विस्मृत पुण्य क्षेत्रों को अपने योग बल से पहचान कर उन स्थानों का निर्माण कराया था, उसी प्रकार जगद्गुरु शंकराचार्य को भी यह प्रेरणा हुई थी कि वे उत्तराखण्ड की विस्मृत देव भूमियों तथा तपोभूमियों का पुनरुद्धार करावें। वे दक्षिण भारत के केरल प्रान्त से चलकर उत्तराखण्ड आये और उन्होंने बद्रीनाथ आदि अनेकों मन्दिरों का निर्माण कराया। आज उत्तराखण्ड का जो गौरव परिलक्षित होता है उसका बहुत कुछ श्रेय उन्हीं को है।

इस 'हिमालय के हृदय' के किनारे-किनारे जितने तीर्थ हैं उतने भारतवर्ष भर में और कहीं नहीं हैं। देवताओं की निवास भूमि सुमेरु पर्वत पर बताई गई है। सुमेरु पर पहुंचना मनुष्यों के लिए अगम्य है। इसलिए जनसम्पर्क की दृष्टि से कुछ नीचे उत्तराखण्ड की तपोभूमि में देवताओं ने अपने स्थान बनाये। राजा का व्यक्तिगत समय अपने राजमहलों में व्यतीत होता है, वहां हर कोई नहीं पहुंचता।

पर राजदरबार का स्थान राजा जनकार्यों के लिए ही सुरक्षित रखता है। सुमेरु यदि देवताओं का राजमहल कहा जाय तो उससे कुछ ही नीचे के समीपतम देव स्थानों को राजदरबार कहा जा सकता है। उत्तराखण्ड के नक्शे पर एक दृष्टि डाली जाय तो यह निश्चय हो जाता कि 'हिमालय के हृदय' से नीचे के भाग का देवभूमि कहा जाना सार्थक ही है।

हरिद्वार से ही लीजिये। यहां ब्रह्माजी ने यज्ञ किया था। दक्ष प्रजापति ने कनखल में यज्ञ किया था और उनकी पुत्री सती अपने पति शिव का अपमान सहन न करके इसी यज्ञ में कूद पड़ी थीं। यह मायापुरी, सप्तपुरियों में से एक है। देवप्रयाग में वाराह भगवान का निवास हुआ है। सूर्य तीर्थ यहां है, रघुनाथजी तथा काली भैरव की भी स्थापना है। आगे ढुंढप्रयाग तीर्थ में गणेशजी ने तप किया था। श्रीनगर में भैरवी पीठ है, चामुण्डा, भैरवी, कंसमर्दिनी गौरी, महर्षिमर्दिनी, राजेश्वरी देवियों का यहां निवास है। चण्ड-मुण्ड, शुंभ-निशुंभ महिषासुर आदि असुरों का उन्होंने यहीं वध किया था। सौडी चट्टी से 5 मील ऊपर स्वामि कार्तिक का स्थान है। इससे पूर्व मठचट्टी के सामने सूर्य प्रयास में सूर्यपीठ है और वहां से दो मील भणगा गांव में छिन्न मस्ता देवी तथा वहां से दो मील आगे जैली में कूर्मासना देवी विराजमान है। गुप्त काशी में अन्नपूर्ण देवी का निवास है। नारायण कोटि तीर्थ में लक्ष्मी सहित नारायण की प्रतिष्ठा है। 1 मील पश्चिम के पहाड़ पर यक्ष देवता का मेला लगता है। रामपुर से दो मील आगे शकाम्भरी देवी है जहां एक मास शाक खाकर तप करने का बड़ा महत्व माना जाता है। त्रियुगी नारायण में नारायण मन्दिर के अतिरिक्त लक्ष्मी, अन्नपूर्णा और सरस्वती की स्थापना है शिव पावती विवाह भी यहीं हुआ था। उस विवाह की अग्नि एक चतुष्कोण कुंड में अभी तक जलती रहती है। नारायण मन्दिर में अखण्ड दीपक भी जलता है। सोन प्रयाग में मन्दाकिनी और वासुकी गंगा हैं। वासुकी नाग का निवास इस गंगा के तट पर था। पास ही कालिका देवी का स्थान है। सोन प्रयाग से आधा मील आगे वह स्थान है जहां शिव ने गणेश का सिर काटा था और फिर हाथी का सिर लगाया था। यहां बिना सिर के गणेश की प्रतिमा है।

केदारनाथ तीर्थ में वह स्थान है जहां पाण्डव अपने कुलघात के दोष का निवारण करने के लिए शंकर भगवान के दर्शनों के लिये गये थे। पर उनके पाप को देखते हुए शिवजी वहां से भैंसे का रूप बनाकर भागे। भागते हुये भैंसे को पीछे से पांडवों ने पकड़ लिया। जितना अंग पकड़ में आया उतना वहां रह गया शेष अंग को छुड़ा कर शिवजी आगे भाग गये। हिमालय में पांच केदार हैं— केनादनाथ, मध्यमेश्वर, तुगनाथ, रुद्रनाथ, कल्पेश्वर। रुद्रनाथ के समीप वैतरणी नदी बहती है। पुराणों में वर्णन आता है कि यमलोक में जाते समय जीव को रास्ते में वैतरणी नदी मिलती है। गोपेश्वर में एक वृक्ष पर लिपटी हुई बहुत पुरानी कल्पलता है जो प्रत्येक ऋतु में फूल देती है। स्वर्ग में कल्प वृक्ष या कल्पलता होने की बात की संगति इस कल्पलता से बिठाई जाती है। पास ही अग्नि तीर्थ है। यहीं कामदेव का निवास था। शंकरजी से छेड़छाड़ करने के अपराध में उसे यहीं भस्म होना पड़ा था। काम की पत्नी रति ने यहां तप किया था इसलिए वहां रति कुण्ड भी है।

पीपल कोटि से 3।। मील आगे गरुड़ गंगा है यहां विष्णु के वाहन गरुड़ का निवास माना जाता है। जोशीमठ में नृसिंह भगवान विराजते हैं। विष्णु प्रयाग में विष्णु भगवान का निवास है। यहां ब्रह्मकुण्ड, शिवकुंड, गणेशकुंड, टिंगी कुंड, ऋषि कुंड, सूर्यकुंड, दुर्गाकुंड, कुबेर कुंड, प्रह्लाद कुंड अपने अधिपतियों के नाम से विख्यात हैं। पांडुकेश्वर से एक मील आगे शेष धारा है जहां शेषजी का निवास माना जाता है। बद्रीनाथ में नर, नारायण, गरुड़, गणेश, कुबेर, उद्धव तथा लक्ष्मीजी की प्रतिमाएं हैं। सरस्वती गंगा और अलकनन्दा के संगम पर केशव प्रयाग है, पास ही सम्याप्रास तीर्थ है। यहां गणेश गुफा तथा व्यास गुफा है। व्यास जी ने महाभारत गणेश जी द्वारा यहीं लिखाया था।

केदारखंड में वर्णन है कि कलियुग में मलेच्छ शासन आ जाने और पाप बढ़ जाने से शंकरजी काशी छोड़कर उत्तर काशी चले गये अब यहीं उनका प्रमुख स्थान है। विश्वनाथ का मन्दिर यहां प्रसिद्ध है। देवासुर संग्राम के समय आकाश से गिरी हुई शक्ति की स्थापना भी दर्शनीय है। आगे ढोढी तालाब है, जहां गणेशजी का जन्म हुआ था।

गंगोत्री के समीप रुद्रगैरु नामक स्थान है यहां से रुद्र गंगा निकलती है, यहां एकादश रुद्रों का निवास स्थान है। जागला चट्टी के पास गुंगुम नाला पर वीरभद्र का निवास है।

इस प्रकार हिमालय के हृदय स्थल पर खड़े होकर जिधर भी दृष्टि घुमाई जाय उधर तीर्थों का वन ही दिखाई देता है। गंगोत्री आदि ठंडे स्थानों के निवासी जाड़े के दिनों में ऋषिकेश उत्तरकाशी आदि कम ठंडे स्थानों में उतर आते हैं। उसी प्रकार लगता है कि देवता भी सुमेरु पर्वत से नीचे उतर कर उत्तराखंड में अपने सामयिक निवास स्थल बना लेते होंगे। इन देव स्थलों में आज भी जन कोलाहल वाले बड़े नगरों की अपेक्षा कहीं अधिक सात्विकता एवं आध्यात्मिकता दृष्टिगोचर होती है। देव तत्त्वों की प्रचुरता का यह प्रत्यक्ष प्रमाण कोई व्यक्ति अब भी देख सकता है।

*** *** *** *** ***

तपस्वी लोग तपस्या द्वारा देवतत्त्वों को ही प्राप्त करते हैं। जहां देवत्त्व अधिक हों वहीं उनका प्रयोजन सिद्ध होता है। इसलिए प्राचीन इतिहास, पुराणों पर दृष्टि डालने से यही प्रतीत होता है कि प्रायः प्रत्येक ऋषि ने उत्तराखंड में आकर तप किया है। उनके आश्रम तथा कार्यक्षेत्र भारत के विभिन्न प्रदेशों में रहे हैं पर वे समय-समय पर तप साधना करने के लिए इसी प्रदेश में आते रहे हैं। विविध कामनाओं के लिए विभिन्न व्यक्तियों ने भी तपस्याएं इधर ही की हैं। अनेक असुरों ने भी अपने उपासना क्षेत्र इधर ही बनाये थे। कतिपय देवताओं ने भी तप यहीं किया था। करते भी क्यों न? धरती का स्वर्ग और हिमालय का हृदय तो यहीं से समीप पड़ता है।

बद्रीनाथ में विष्णु भगवान ने तपस्वी का रूप धारण कर स्वयं घोर तप किया था। उस तीर्थ में जाने का प्रधान द्वार होने के कारण हरिद्वार नाम पड़ा। राजा बेन ने यहीं तप किया था। कुशावर्त पर्वत पर दत्तात्रेय जी ने तप किया था। हरिद्वार से तीन मील आगे सप्त सरोवर नामक स्थान पर गंगा के बीच में बैठकर सप्त ऋषियों ने तप किया था। गंगाजी ने उनकी सुविधा के लिए उनका स्थान छोड़ दिया और सात धाराएं बन कर बहने लगीं। बीच में सातों ऋषियों के तप करने की भूमि अलग-अलग छूटी हुई है। इसी स्थान पर जन्हु मुनि तप करते थे। जब भागीरथ गंगा को लाये और भगवती बड़े वेग से गर्जन-तर्जन करती आ रही थी तो मुनि को यह कौतूहल बुरा लगा। उन्होंने गंगा को अंजली में भरकर पी लिया। भागीरथ आगे-आगे चल रहे थे उन्होंने गंगा को लुप्त हुआ देखा तो आश्चर्य में पड़े। कारण मालूम होने पर उन्होंने जन्हु मुनि की बड़ी अनुनय-विनय की तब उन्होंने गंगा को उगल दिया। इसी से तप्त सरोवर के बाद की गंगा को जन्हु पुत्री या 'जाह्नवी' कहते हैं। इससे ऊपर की गंगा 'भागीरथी' कहलाती है। जन्तु के उदर में रहने के कारण वे जन्हुतनया कही गई।

रावण, कुम्भकरण, मेघनाद आदि को मार डालने के कारण रामचन्द्रजी, लक्ष्मण जी को ब्रह्म हत्या का पाप लगा। इस पाप के फलस्वरूप लक्ष्मण जी को क्षयरोग और रामचन्द्रजी को उन्निद रोग हो गया। वशिष्ठजी ने इस पाप से छूटने के लिए उन्हें तप करने को कहा—''लक्ष्मणजी ने लक्ष्मण झूला में और रामचंद्रजी ने देव प्रयाग में दीर्घ काल तक घोर तप किया। बड़े भाइयों को इस प्रकार तप करते देख कर भरत और शत्रुघन ने भी उनका अनुकरण किया। भरत ने ऋषिकेश में और शत्रुघन ने मुनी की रेती में तप किया। इसी क्षेत्र में बाबा काली-कमली वालों का बनाया हुआ 'स्वर्गाश्रम' नामक स्थान है जहां आज भी अनेकों सन्त महात्मा तप करते हैं। लक्ष्मण झूला से 30 मील आगे व्यासघाट में व्यासजी ने तप करके आत्मज्ञान पाया था।

देव प्रयाग में ब्रह्मा जी ने भी तप किया था अलकनन्दा और गंगा के संगम का दृश्य बहुत ही मनोहर है। प्रसिद्ध विद्वान मेधा-तिथि ने यहीं तप करके सूर्य शक्ति को प्रत्यक्ष किया था। वशिष्ठ तीर्थ भी यहीं है जहां वशिष्ठजी ने तप किया था। वहां वशिष्ठ गुफा नाम की एक विशाल गुफा भी नगर से कुछ पहले है। रघुवंशी राजा दलीप, रघु और अज ने यहीं तप किये थे, शाप पीड़ित वैताल और पुष्पमाल किन्नरी ने भी अपने पापों से मुक्ति प्राप्त करने के लिये देवप्रयाग के समीप ही तप किया था।

आगे चल कर इन्द्रकील नामक स्थान पन अर्जुन ने तप करके पाशुपति अस्त्र प्राप्त किया था। खाण्डव ऋषि जहां तप करते थे उसके समीप बहने वाली नदी खाण्डव-गंगा कहलाती है। श्रीनगर के पास राजा सत्यसंघ ने तप करके कोलासुर राक्षस को मारने योग्य सामर्थ्य प्राप्त की थी। राजा नहुष ने भी यहीं तप करके इन्द्र पद पाया। बन्हि धारा और बन्हि पर्वत के बीच अष्टावक्र ऋषि का तप स्थान है। राजा देवल ने भी समीप ही कठोर साधना की थी।

रुद्र प्रयाग में नारदजी ने तप करके संगीत सिद्धि प्राप्त की थी। अगस्त मुनि ने जहां अपना सुप्रसिद्ध नवग्रह अनुष्ठान किया था वह उन महर्षि के नाम पर 'अगस्त मुनि' कहलाने लगा। शौनक ऋषि ने यहां एक यज्ञ किया था। भीरी चट्टी के पास मन्दाकिनी के समीप भीम ने तप किया था। इस से आगे शौणितपुर में वाणसुर ने अपने रक्त का यज्ञ करके तपस्या की थी और शिवजी को प्रसन्न करके सम्पूर्ण जगत को जीत लेने में सफलता प्राप्त की थी।

चन्द्रमा को जब क्षय रोग हो गया था तो उसने कालीमठ से पूर्व मतंग शिला से पांच मील आगे राकेश्वरी देवी के स्थान पर तप करके रोग मुक्ति पाई थी। फाटा चट्टी से आगे जमदग्नि ऋषि का आश्रम है। सोमद्वार से आगे 2।। मील पर गौरी कुण्ड है। पास ही नाथ सम्प्रदाय के आचार्य गुरु गोरखनाथ का आश्रम है। उन्होंने यहीं तप किया था। केदारनाथ तीर्थ में इन्द्र ने जिस स्थान पर तप किया था वह स्थान इन्द्र पर्वत कहलाता है। ऊखीमठ में राजा मान्धाता ने तप किया था। गुप्त काशी के पूर्व मन्दाकिनी नदी के दूसरी पार राजा बलि ने तप किया था, यहीं बलिकुण्ड है। तुंगनाथ के पास मार्कण्डेयजी का आश्रम है। मण्डल गांव चट्टी के पास वालखिल्य नदी है। यह नदी बालखिल्य ऋषियों ने अपनी तप साधना के लिए अभिमंत्रित की थी। राजा सगर ने अश्वमेध यज्ञ यहीं किया था और सन्तान के लिए सौ वर्ष तक आयोजन भी इसी स्थान पर किया था।

नन्द प्रयाग से आगे विरही नदी के तट पर सती विरह में दुःखी शंकर ने अपने शोक को शान्त करने के लिए तप किया था। कुम्हार चट्टी के 6 मील मश्मिोत्तर ऊर्गम गांव है यहां राजा अज ने तप किया था। कल्पेश्वर के समीप दुर्वासा ऋषि का स्थान था। एक दिन ऐरावत हाथी पर सवार होकर इन्द्र उधर से निकले तो महर्षि ने उन्हें फूलमाला भेंट की। इन्द्र ने अभिमान पूर्वक उसे हाथी के गले में पहना दिया। इससे क्रुद्ध होकर दुर्वासा ने इन्द्र को शाप दिया था। समीप ही कल्प स्थल है जहां पूर्वकाल में कल्प वृक्ष का होना माना जाता है। वृद्ध वद्री के पास गुफाएं हैं जहां प्राचीन काल में तपस्वी लोग अपनी साधनाएं किया करते थे। जोशीमठ में जगद्गुरु शंकराचार्य ने तप किया था, उपनिषदों के भाष्य लिखे थे और ज्योतिष्ठ पीठ नामक गद्दी स्थापित की थी। यहीं उन्होंने अपना नश्वर शरीर भी त्यागा। जोशीमठ से छह मील आगे तपोवन है। यहां व्यासजी का वेद विद्यालय था। शुकदेवजी का आश्रम भी यहां से समीप में ही है। पाण्डुकेश्वर में पाण्डवों के पिता राजा पाण्डु ने तप किया था। यहां से 6 मील आगे हनुमान चट्टी है जहां वृद्ध होने पर हनुमानजी ने तप किया है एक बार भीम उधर से निकले, उन्हें अपने बल पर अभिमान था। हनुमानजी ने कहा ऐ वीर! मैं बहुत वृद्ध बन्दर हूं। अब मुझ से मेरे अंग भी नहीं उठते, तुम मेरी पूंछ उठाकर उधर सरका दो तो बड़ी कृपा हो। भीम ने पूंछ उठाई पर उठ न सकी। तब उन्होंने हनुमानजी को पहचाना और क्षमा मांगी। हनुमान चट्टी के पास अलकनन्दा के उस पार क्षीर गंगा और घृत गंगा का संगम है। पूर्व काल में इनका जल दूध और घी के समान पौष्टिक था। यही वैखानस मुनि तप करते थे। राजा मरुत ने यहीं एक बड़ा यज्ञ किया था जिसकी भस्म अभी भी वहां मिलती है। कर्णप्रयाग में कर्ण ने सूर्य का तप करके कवच और कुण्डल प्राप्त किये थे।

गंगोत्री मार्ग में उत्तरकाशी तपस्वियों का प्रमुख स्थान रहा है। परशुराम जी ने यहीं तप करके पृथ्वी को 21 बार अत्याचारियों से विहीन कर देने की शक्ति प्राप्त की थी। जड़-भरत का स्वर्गवास यहीं हुआ था, उनकी समाधि अब भी मौजूद है। नचिकेता का तपस्थल भी यहीं है। नचिकेता सरोवर देखने योग्य है। यहां से आगे नाकोरी गांव के पास कपिल मुनि का स्थान है। पुरवा गांव के पास मार्केण्डेय और मतंग ऋषियों की तपोभूमियां हैं। इसके पास ही कचोरा नामक स्थान में पार्वती जी का जन्म हुआ था। हरिप्रयाग (हर्षिल) गुप्त प्रयाग (कुप्ति घाट) तीर्थ भी इसी मार्ग में पड़ते हैं। आगे गंगोत्री का पुण्य धाम है जहां भागीरथ ने तप करके गंगा का स्वर्ग से पृथ्वी पर अवतरण किया था। यहां अभी भी कितने ही महात्मा प्रचण्ड तप करते हैं। शीत ऋतु में जब कि कभी-कभी तेरह फुट तक बर्फ पड़ती है ये तपस्वी बिलकुल नग्न शरीर रह कर अपनी कुटियाओं में तप करते रहते हैं। गोमुख गंगा का वर्तमान उद्गम यहां से 18 मील है। उस मार्ग में भी कई महात्मा निवास करते और तप साधना में संलग्न रहते हैं।

सिक्खों के गुरु गोविंदसिंह ने जोशीमठ के पास हेम कुण्ड में 20 वर्ष तक तप करके सिक्ख धर्म को प्रगतिशील बनाने की शक्ति प्राप्त की थी। स्वामी रामतीर्थ का यही सबसे प्रिय प्रदेश था। वे गंगा और हिमालय के सौन्दर्य पर मुग्ध थे। टिहरी के पास गंगा जी में स्नान करते समय वे ऐसे भाव विभोर हुए कि उसकी लहरों में ही विलीन हो गये।

उत्तराखण्ड को साधना क्षेत्र में चुनने में इनमें से प्रत्येक ने सूक्ष्म दृष्टि से ही काम लिया है। वे जानते थे कि हिमालय के हृदय—धरती के स्वर्ग प्रदेश की दिव्य शक्ति अपनी ऊष्मा को अपने निकटवर्ती क्षेत्र में ही अधिक बिखेरती है इसलिये वहीं पहुंचना उत्तम है। अग्नि का लाभ उठाने के लिये उसके समीप ही रहना पड़ता है। आध्यात्मिक तत्त्वों की किरणें जहां अत्यन्त तीव्र वेग से प्रवाहित होती हैं वह स्थान सुमेरु केन्द्र ही है। केवल पानी वाली गंगा ही वहां से नहीं निकलती आध्यात्मिक गंगा का उद्गम भी वहीं है। उस पुण्य प्रदेश—धरती के स्वर्ग को देख सकना कैसे सम्भव हुआ? वहां क्या देखा और क्या अनुभव किया? वहां की दुर्गमता किस प्रकार सुगम बनी है? इसका विवरण अब उपस्थित करना है।

अध्यात्म साधना के लिए हिमालय की उपयोगिता

****

किसी भी कार्य की सफलता के लिए उसके लिए उपयुक्त स्थान और अवसर की आवश्यकता होती है। यह ठीक है कि मनस्वी पुरुषार्थी लोग पत्थरों पर भी अपना रास्ता बना लेते हैं और असम्भव को भी सम्भव बना देते हैं। यह भी ठीक है कि एकाग्रता, निष्ठा, तन्मयता और प्रबल इच्छा शक्ति की प्रचण्डता के सामने अनुपयुक्त परिस्थितियां भी उपयुक्त बन जाती हैं, पर साथ ही यह भी मानना ही पड़ेगा कि उपयुक्त स्थान और वातावरण का भी कम महत्व नहीं है। यदि कार्य के अनुकूल परिस्थितियों एवं साधनों की व्यवस्था करली जाय तो मंजिल सहज ही होती है और असफलता का भय बहुत अंशों में दूर हो जाता है। इसके प्रतिकूल यदि साधनों का अभाव हो तो मनस्वी व्यक्तियों को भी अपना लक्ष पूर्ण करने में बहुत देर लगती है और बहुत कष्ट उठाना पड़ता है। अनुकूल साधन प्राप्त होने पर जितने समय और श्रम में जितनी सफलता प्राप्त की जाती है, प्रतिकूल परिस्थितियों में उससे बहुत कम सफलता, अत्यधिक श्रम और समय लगाने पर उपलब्ध होती है। इसलिये उचित यही है कि किसी कार्य को करने के लिए उसके उपयुक्त परिस्थितियां और साधनों को तलाश कर लिया जाय।

यदि खेती ऊसर या पथरीली जमीन पर की जाय तो फसल बहुत कम ही उपजेगी। अच्छी फसल प्राप्त करने के लिए उपजाऊ जमीन ढूंढ़नी पड़ेगी और साथ ही खाद, सिंचाई की सुविधा का भी प्रबन्ध करना होगा। यह ठीक है कि कोई मनस्वी व्यक्ति प्राण-पण से जुट जावें तो ऊसर जमीन को भी अपने पुरुषार्थ से उपजाऊ बना सकते हैं पर इसमें उन्हें उससे कहीं अधिक शक्ति व्यय करनी पड़ेगी जितनी कि अधिक उपजाऊ और जल-सुविधा की भूमि प्राप्त होने पर करनी पड़ती। इसलिये बुद्धिमान लोग कार्य की सफलता के लिये उपयुक्त साधनों और परिस्थितियों के सम्बन्ध में भी समुचित ध्यान दिया करते हैं।

आध्यात्मिक साधनाएं कहीं भी की जा सकती हैं, अपना घर भी उसके लिये बुरा नहीं है। सभी भूमि गोपाल की होने के कारण सर्वत्र परमात्मा ही समाया हुआ है, इसलिए किसी स्थान विशेष में प्रभु का स्मरण करने का कोई प्रतिबन्ध नहीं है। फिर भी उपयुक्त स्थान की अपनी बहुत कुछ विशेषता होती है। गीता के विभूति योग अध्याय में भगवान ने बताया है कि विशेषतायुक्त प्रत्येक वस्तु में मेरी प्रधानता समझनी चाहिये। यही बात स्थान के सम्बन्ध में भी लागू होती है।

जिस प्रकार पशुओं में गौ, पक्षियों में हंस, वृक्षों में पीपल, पौधों में तुलसी, धान्यों में जौ की सात्विकता प्रसिद्ध है, सतोगुणी तत्वों की मात्रा अधिक होने से उनका सान्निध्य एवं सेवन सब प्रकार मंगलमय माना जाता है, इसी प्रकार कुछ स्थानों और नदी-सरोवरों में यह सूक्ष्म सात्विक शक्ति प्रचुर परिमाण में पाई जाती है, तदनुसार उनके समीप रहने वालों में भी सत् तत्व बढ़ता है और आध्यात्मिक सफलता का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। सूक्ष्मदर्शी ऋषियों ने ऐसे स्थानों की खोज उसी प्रकार की थी जिस प्रकार आज कल सोने, चांदी आदि धातुओं की खानें खोजी जाती हैं। जो स्थान सत् तत्व से ओत-प्रोत मिले उन्हें तीर्थ घोषित किया गया। वहां ऋषि-मुनियों ने अपने निवास एवं साधना के स्थान बनाये। साथ ही जनता को भी उन तीर्थों में स्नान एवं दर्शन के अभिप्राय से समय-समय पर आते रहने और वहां कुछ दिन निवास करके आत्मिक स्वास्थ्य लाभ करने का निर्देश किया। इन तीर्थों में उन ऋषियों का सान्निध्य, सत्संग एवं मार्ग दर्शन भी आगन्तुक तीर्थ यात्रियों को प्राप्त होता था, जिससे उनके अन्तःकरण की मुरझाई हुई कली फिर हरी हो जाती थी।

दुर्भाग्य और समय के फेर से आज तीर्थों का वातावरण भी विकृत हो गया है। वहां के निवासी ऋषियों के वंशज कहकर दान दक्षिणा तो बटोरते हैं, पर चरित्र, तप, त्याग एवं ज्ञान विज्ञान से रहित होने के कारण आगन्तुकों का कुछ भला नहीं कर पाते। इतना ही नहीं उलटे अपने निम्न मानसिक स्तर और लूट खसोट के कारण लोगों में अश्रद्धा ही उत्पन्न करते हैं। इतना सब होते हुए भी उन स्थानों की सूक्ष्म शक्ति अभी भी पूर्ववत् बनी हुई है। गंगा में अनेकों मगर, मेंढक पड़े रहे, उसमें मल-मूत्र एवं दुष्कर्म भी करते रहें तो भी गंगा अपवित्र नहीं होती और न उसकी महत्ता में कोई कमी आती है। इसी प्रकार जो स्थान ऋषियों ने सत् तत्त्व प्रधान खोजे थे, मूलतः आज भी वैसे ही बने हुए हैं यद्यपि बाह्य वातावरण वहां का बहुत करके उलटा ही हो गया है।

स्थान की अपनी विशेषता होती है। श्रवणकुमार जब अपने अन्धे माता-पिता की कांवर कंधे पर रखकर उन्हें तीर्थ यात्रा कराने ले जा रहे थे तो एक स्थान ऐसा आया जहां पहुंचते ही श्रवणकुमार का मन बदल गया। उन्होंने कांवर जमीन पर रख दी और माता पिता से कहा—''आप लोगों की आंखें ही तो नहीं हैं, पैदल चलिए, मैं सिर्फ आपको रास्ता बताऊंगा, कंधे पर लादे न फिरूंगा।'' आदर्श पितृभक्त श्रवणकुमार में इस प्रकार का अचानक परिवर्तन देखकर उसके पिता क्रुद्ध न हुए वरन् वस्तुस्थिति को समझ गये और उन्होंने कहा ''हम लोग पैदल ही चलेंगे पर तुम इतना अवश्य करो कि जल्दी ही इस स्थान को छोड़ दो और तेजी से चल कर कहीं दूसरी जगह में हमें ले चलो।'' श्रवणकुमार ने ऐसा ही किया। जैसे ही वे क्षेत्र समाप्त हुआ, बालक की बुद्धि ने पलटा खाया और वह अपनी भूल पर बड़ा दुःखी हुआ। माता-पिता से रो-रोक क्षमा मांगने लगा और पुनः कंधे पर बिठा लिया।

श्रवणकुमार के पिता ने बालक को सांत्वना देते हुए एक पुराना इतिहास बताया कि इस स्थान पर दानव रहता था और यहां कुकृत्यों एवं कुविचारों का केन्द्र जमा रहता था। उन्हीं अशुभ संस्कारों से संस्कारित होने के कारण यह भूमि ऐसी है कि यहां कोई सद्विचार वाला व्यक्ति पहुंचे तो वह भी कुविचारी बन जाता है। इसलिए हे पुत्र, इसमें तुम्हारा दोष नहीं है यह भूमिगत दोष है। ऐसी पातकी भूमियों से दूर ही रहना चाहिए।

इसी प्रकार की एक कथा तब की है जब महाभारत होने को था। श्रीकृष्ण जी को भय था कि भाई भाइयों का युद्ध है, कहीं ऐसा न हो कि लड़ते-लड़ते किसी पक्ष का मोह उमड़ पड़े और दुष्टों के संहार का कार्य अधूरा ही रह जाये। इसलिए युद्ध के लिए ऐसी भूमि ढूंढ़नी चाहिए जहां नृशंसता और निर्ममता का बोलबाला हो। ऐसी भूमि तलाश करने के लिए श्रीकृष्ण जी ने सभी दिशाओं को दूर-दूर तक दूत भेजे और वहां की विविध घटनाओं के समाचार लाकर देने का आदेश दिया। दूत गए और बहुत दिन बाद अपने समाचार लाकर दिये। एक दूत ने बताया कि—''उसने एक स्थान पर ऐसी घटना देखी कि बड़ा भाई छोटे भाई को कह रहा था कि वर्षा के कारण खेत की मेंड़ टूट गई है उसे ठीक कर आओ। छोटे भाई ने बड़े को बड़ा अपमानजनक उत्तर दिया और कहा यह कार्य तू कर। बड़े भाई को ऐसा क्रोध आया कि छोटे भाई का गला मरोड़ डाला और उसकी लाश को घसीटता हुआ वहां ले गया जहां खेत की मेंड़ टूटी पड़ी थी। उस लाश को ही उसने मिट्टी की जगह डाल कर मेंड़ सुधारी, इस घटना को सुनकर श्रीकृष्ण जी समझ गये कि जहां भाई-भाई के बीच नृशंसता बरती जा सकती हो वही भूमि इस युद्ध के लिए उपयुक्त है। उन्होंने उसी जगह लड़ाई का झंडा गढ़वा दिया और अन्त तक दोनों ही पक्ष इस युद्ध को एक दूसरे के खून के प्यासे होकर लड़ते रहे।

उपरोक्त दी घटनाओं में जिस प्रकार भूमि के कुसंस्कारित होने की चर्चा है उसी प्रकार सुसंस्कारी भूमियां भी होती हैं और वहां रहने से मनुष्य की भावनाओं और विचार धाराओं में तदनुकूल प्रवाह उठने लगते हैं। यदि उन प्रेरणाओं को थोड़ा प्रोत्साहन एवं सिंचन मिलता रहे तो निस्संदेह उस स्थान की सुसंस्कारिता से बहुत लाभ उठा सकते हैं। अध्यात्म मार्ग के पथिकों के लिये तो ऐसे स्थान बहुत ही मंगलमय होते हैं। ऐसे स्थान का चुनाव कर लेने से उन्हें आधी सफलता तो उस चुनाव के कारण ही मिल जाती है।

सतोगुणी आध्यात्मिक साधनाओं के लिये हिमालय का उत्तराखण्ड बहुत ही उपयुक्त है। प्राचीनकाल में अधिकांश ऋषियों ने इसी भूमि में अपनी तपस्याएं पूर्ण की थीं। इस प्रदेश में भ्रमण करने से पता चलता है कि भारतवर्ष के प्रधान-प्रधान सभी ऋषियों के आश्रम प्रायः इसी क्षेत्र में थे। कुछ ऋषि ऐसे भी थे जो आवश्यक प्रयोजनों के लिए देश के विभिन्न भागों में जाकर वहां अभीष्ट कार्य करते थे और कार्य की सुविधा के लिये वहां भी आश्रम बनाते थे पर जब भी उन्हें अधिक आत्मबल उपार्जन के लिए तप करने की आवश्यकता पड़ती थी तब फिर इसी हिमालय भूमि में जा पहुंचते थे। सहस्रधारा होकर गंगा इसी प्रवेश में बहती है। यों गंगा का प्रथम दर्शन गंगोत्री से 18 मील ऊपर गोमुख नाम के स्थान में होता है पर वहां तो एक छोटा पतला-सा प्रधान झरना मात्र है गंगा में जो जल एकत्रित होता है वह उत्तराखण्ड की हजार निर्झरणियों, लघु नदियों द्वारा होता है। इन सब को भी गंगा का अंग मानते हैं और ऐसा समझा जाता है कि गंगा इस प्रदेश में सहस्र धारा होकर बही है और फिर अन्त में सब मिलकर हरिद्वार से एक सम्मिलित पूर्ण गंगा बन गई है। इस प्रकार सारा हिमालय प्रदेश, उत्तराखण्ड, गंगा के द्वारा पवित्र होकर आध्यात्मिक साधना के साधकों के लिये अलभ्य सुयोग उपस्थित करता है।

ये ऊंचे, ठण्डे पर्वतीय प्रदेश स्वास्थ्य के लिये जलवायु की दृष्टि से बहुत ही लाभदायक माने जाते हैं। धनी सम्पन्न लोग गर्मी के दिनों में शान्ति मनोरंजन एवं स्वास्थ्य लाभ करने के लिये इन मनोरम प्रदेशों में सैर करने जाया करते हैं। काश्मीर, शिमला, देहरादून, मंसूरी, अल्मोड़ा, नैनीताल, दार्जलिंग आदि अनेकों स्थान ऐसे हैं जहां जलवायु की उत्तमता के कारण स्वास्थ्य लाभ करने और प्राकृतिक मनोरम दृश्यों से आंखों तथा मनोदशा के सुधारने के लिये लाखों व्यक्ति जाया करते हैं और इस कार्य के लिये बहुत धन भी खर्च करते हैं। इस प्रकार उत्तराखण्ड का गंगा से पवित्र हिमालय प्रदेश स्वास्थ्य लाभ करने के लिये अद्वितीय एवं अनुपम स्थान है।

इस गये गुजरे जमाने में जब कि सर्वत्र बेईमानी और बदमाशी की विजय पताका फहरा रही है, उत्तराखण्ड आज भी अधिकांश बुराइयों से बचा हुआ है। यमुनोत्री, गंगोत्री केदारनाथ, बद्रीनाथ की यात्रा को लाखों यात्री हर साल जाते हैं, उन सभी को इस बात की गवाही में पेश किया जा सकता है कि उस प्रदेश के पहाड़ी आमतौर से ईमानदार होते हैं। चोरी, व्यभिचार, गुण्डई, झूठ, हरामखोरी, ईर्ष्या आदि पातकों की पहुंच वहां नहीं के बराबर ही है। जिन यात्रियों को पहाड़ियों से व्यवहार करना पड़ता है वे एक स्वर से कह सकते हैं कि नीचे के प्रदेशों की अपेक्षा पहाड़ी लोग लाख दर्जे ईमानदार और भले होते हैं। पुलिस के रजिस्टरों को भी इस सबूत में पेश किया जा सकता है कि इस प्रदेश में अपराध कितने कम होते हैं। इसका कारण उस प्रदेश के सूक्ष्म वातावरण की सात्विक विशेषता ही है जिसके प्रभाव से वहां के निवासी अभी भी, नेक और ईमानदार माने जाते हैं।

साधकों में जो अन्तः ऊष्मा बढ़ती है उसे शांत करने के लिए हिमालय की शीतलता एक अद्भुत रसायन का काम करती है। गरम प्रदेशों में रहकर कठोर तपश्चर्या करने में कई बार बढ़ी हुई अंतःऊष्मा शान्त न हो सकी तो उस स्थिति में हानि होने की सम्भावना रहती है, पर हिमालय के अंचल में रहकर साधन करने वालों को कोई भय नहीं रहता।

पाण्डव हिमालय में शेष जीवन समाप्त करने के लिए—ऊंचाई ही नहीं वरन् वातावरण की उच्च को भी ध्यान में रखते हुए गये थे। स्वर्गारोहण नामक एक स्थान है जिसके बारे में कहा जाता है कि यहीं हिमालय में पहुंच कर पाण्डवों ने सीधा स्वर्ग को प्रस्थान किया था। एक मत यह भी है कि प्राचीन काल में उत्तराखंड ही स्वर्गलोक था। यहां तपस्वी, साधक, ऋषि मुनि एवं देव स्वभाव के सत्पुरुष रहते थे। यहां इतनी अधिक सत्प्रवृत्तियां फैली रहती थीं कि इस वातावरण में लोगों को वे शारीरिक और मानसिक व्यथा, बाधाएं न सताती थीं, जो संसार में सर्वत्र आमतौर से देखी जाती हैं। वहां के आनन्द और उल्लासमय वातावरण को देखते हुए यदि उस क्षेत्र का नाम स्वर्ग रखा गया हो तो इसमें कुछ आश्चर्य की भी बात नहीं है। सम्भव है पाण्डव दिल्ली के क्षुब्ध वातावरण से हट

कर शेष जीवन वहीं व्यतीत करने और देव पुरुषों के सान्निध्य में रहने गये हों। गंगोत्री से आगे गोमुख से सीधे बद्रीनाथ जाने के पर्वतीय मार्ग में नन्दन कानन नामक क्षेत्र आता है। स्वर्ग में नन्दन कानन होने की बात प्रसिद्ध ही है।

जो हो यह एक तथ्य है कि आध्यात्मिक साधनाओं के लिए गंगा तटवर्ती हिमालय भाग एक उपयुक्त स्थान है। साधना की महत्ता समझाने वाले केवल तीर्थ यात्रा और देव दर्शन के लिए ही नहीं कुछ समय निकाल कर यदि उधर साधना के लिए भी जाया करें तो उनकी साधना का मार्ग अधिक प्रशस्त हो सकता है। जिस प्रकार शारीरिक स्वास्थ्य बढ़ाने के लिए कतिपय पहाड़ी प्रदेश अच्छे माने जाते हैं उसी प्रकार आत्मोन्नति की दृष्टि से भी गंगा तटवर्ती हिमालय सब प्रकार उपयुक्त ही है।

____***____

साधना के लिए गंगा-तट की महिमा और महत्ता

****

भगवान् श्री कृष्ण ने गीता के अध्याय 10 श्लोक 31 में स्वयं मुख से कहा है—''स्रोतसामस्मि जाह्नवि'' अर्थात्—नदियों में भागीरथी गंगा मैं हूं।

भागवद् स्कन्ध 11 अध्याय 16 में आता है—''तीर्थानां स्रोतसां गंगा'' तीर्थों में गंगा सबसे श्रेष्ठ है।

यों गंगाजल की लौकिक महत्ता भी कम नहीं है। पर इसका मूल महत्व तो पारलौकिक एवं आध्यात्मिक ही है। गंगा से कितने मनुष्यों और अन्य जीव-जन्तुओं की तृष्णा शान्त होती है, कितनी भूमि हरी-भरी शस्यश्यामला बनती है, उसके जल से सिंचित होकर कितनी घास-पात, कितना अन्न, शाक, फलों का भण्डार उत्पन्न होता है इसे सभी लोग जानते हैं। सभी मानते हैं कि लाखों करोड़ों मनुष्यों और पशु-पक्षियों का जीवन गंगा पर निर्भर रहता है। यदि गंगा का अवतरण न हुआ होता तो आज जहां की भूमि हरी-भरी दीखती है, जहां अगणित मनुष्य और पशु-पक्षी आनन्द से किलोल करते हैं वहां का दृश्य दूसरा ही हुआ होता। उस भूमि पर आज श्मशान जैसी विभीषिका दृष्टिगोचर होती। भगवती गंगा जिस प्रदेश में होकर गुजरती है वहां के समीपवर्ती लोगों को तो जीवन के बहुमूल्य आधार दिये ही हैं, साथ ही दूरवर्ती जनता को भी बहुत कुछ दिया है। यहां की समृद्धि दूर-दूर तक फैल कर प्रकारान्तर से सारे देश की श्री, समृद्धि को बढ़ाती है। जैसे पानी से भरे हुए भगौने को उसके किसी एक छोटे स्थान पर भी आग से गरम किया जाय तो वह गर्मी सारे बर्तन या पानी में फैल कर सभी को गरम कर देती है, इसी प्रकार गंगा के द्वारा उत्पन्न हुई समृद्धि सारे देश को ही नहीं सारे विश्व को समृद्ध बनाती है। जो सघन वन गंगा के किनारे हैं उनकी कीमती लकड़ी देश के कोने-कोने में जाकर गृह निर्माण एवं काष्ठ शिल्प की आवश्यकता पूरी करती है। यहां की उर्वरा भूमि में उत्पन्न हुआ अन्य समीपवर्ती लोगों की आवश्यकता से कहीं अधिक होता है और दूरवर्ती लोगों की भी क्षुधा शान्त करने में सहायक होता है। ब्राह्मी आदि अगणित जड़ी-बूटियां गंगाजल में हैं। पनपती हैं। गंगा के द्वारा मनुष्य जाति को जो आर्थिक लाभ होता है, जो विपुल श्री सम्पदा प्राप्त होती है उसका अनुमान लगा सकना भी कठिन है।

आरोग्य की दृष्टि से गंगाजल का जो महत्व है उससे आधुनिक वैज्ञानिक एवं डॉक्टर भी आश्चर्यचकित हैं। विश्लेषण करने पर गंगाजल में तांबा, स्वर्ण, पारद आदि धातुओं एवं अनेक बहुमूल्य क्षारों की ऐसी संतुलित मात्रा मिली है जिसका सेवन एक प्रकार से औषधि का काम करता है। अच्छे स्वास्थ्य को वह और भी अधिक बढ़ाने में सहायक होता है। गिरे हुए स्वास्थ्य को गिरने से रोकता है और बीमारियों को निरोग बनाने में बहुमूल्य औषधि का काम करता है। अनेकों रोगी जो वर्षों तक खर्चीला औषधि उपचार करने पर रोग मुक्त न हो सके, केवल मात्र गंगाजल के सेवन से रोग मुक्त होते देखे गये हैं। कोढ़ की एक मात्र चिकित्सा गंगाजल मानी गई है। प्राचीन काल के आयुर्वेद ज्ञाता कोढ़ी लोगों को गंगा किनारे रहने और निरन्तर गंगाजल सेवन करते रहने की सलाह देते थे और उसका परिणाम भी आशाजनक होता था। आज शहरों का मल-मूत्र पड़ते रहने से गंगा की वह विशेषता नहीं रही और रोगियों को उतना लाभ नहीं होता फिर भी प्राचीन परिपाटी के अनुसार आज भारत भी के अधिकांश कोढ़ी गंगा किनारे निवास करते देखे जा सकते हैं।

संग्रहणी, शोथ, वायु विकार, श्वास रोग, मृगी, हृदय रोग, रक्तचाप, मूत्र रोग, वीर्य और रज विकारों में गंगाजल का प्रभाव होता है, यों लाभ तो सभी रोगों में करता है। गंगाजल चिरकाल तक किसी शीशी या बर्तन में रखा रहने पर भी खराब नहीं होता। यह गुण संसार के और किसी सरोवर आदि के जलों में नहीं है। जल के खराब न होने का कारण यह है कि उसमें विकृति उत्पन्न करने वाले दूषित कीटाणुओं को मार डालने का गुण है। डाक्टरों ने एक बार यह परीक्षण किया कि हैजे के कीटाणु भरी बोतल को एक पात्र में रख कर थोड़े से गंगाजल में डाला और इसके परिणाम की जांच की। उन्हें आशा थी कि विषैले कीटाणुओं से गंगाजल भी वैसा ही विषैला हो जायगा पर परिणाम इससे भिन्न ही निकला। गंगाजल में पड़ते ही हैजे की कीटाणु नष्ट हो गये, पर गंगाजल दूषित न हुआ। यदि गंगा में यह विशेषता न हुई होती तो प्रतिदिन लाखों मन मल-मूत्र जो उसमें पड़ता है उसके कारण उसका जल रोग उत्पन्न करने वाला हो गया होता। ऐसा तो नहीं हुआ है गंगा की पवित्रता तो अभी भी बनी हुई है। पर प्रतिदिन पड़ने वाली गन्दगी को नष्ट करने में उस जल के गुणकारी अमूल्य तत्व तो नष्ट होते हैं और उसकी आरोग्य वर्द्धनी शक्ति भी घटती है। अब वही गंगाजल अधिक उपयोगी माना जाता है जो हिमालय के उन भागों में उपलब्ध है जहां मल मूत्र का अधिक मिश्रण नहीं हो पाया है। यदि गंगा तटवर्ती हिमालय प्रदेशों में आरोग्य वर्धक स्वास्थ्य गृह खोलने की ओर सरकार ध्यान दे तो उससे रोगियों को शारीरिक ही नहीं आध्यात्मिक भी आशाजनक लाभ हो सकता है।

संसार की प्रत्येक वस्तु के तीन स्तर होते हैं। 1 स्थूल 2 सूक्ष्म 3 कारण। बाह्य दृष्टि से जो गुण या लाभ दिखाई पड़ते हैं स्थूल हैं। जो वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा गम्भीर अनुसंधान द्वारा प्रमाणित होते हैं वे सूक्ष्म हैं और जो तत्वदर्शी आत्म विज्ञानवेत्ता सूक्ष्म दृष्टा योगियों के द्वारा योग दृष्टि से देखे और समझे जाते हैं। वे कारण-गुण कहलाते हैं। तुलसी यों स्थूल दृष्टि से एक हरा-भरा पौधा मात्र है। सूक्ष्म दृष्टि से ज्वर नाशक एवं अन्य कई रोगों का शमन के गुण उसमें हैं। कारण शोध पर पता चलता है कि उसमें सतोगुणी आध्यात्मिक तत्त्व इतनी अधिक मात्रा में है कि उसे घर में लगाने से और सेवन करने से शरीर में सतोगुणी प्रवृत्तियां अनायास ही बढ़ने लगती हैं। इसीलिये इसका धार्मिक कार्यों में उत्साहपूर्वक प्रयोग किया जाता है। गाय के सम्बन्ध में भी यही बात है। स्थूल दृष्टि से वह एक सीधा-साधा उपयोगी पशु मात्र है। सूक्ष्म दृष्टि से दूध में प्राण तत्त्व एवं जीवनी शक्ति की उतनी अधिक मात्रा है जितनी संसार के और किसी पदार्थ में नहीं। कारण दृष्टि से उसके कणों में देवत्व के परमाणु व्याप्त हैं जिसके सान्निध्य से मनुष्य में दिव्य गुण, धर्म स्वभावों की, आचार एवं विचारों की अभिवृद्धि होती है। तुलसी और गाय की तरह प्रत्येक पदार्थ में अपने-अपने स्थूल, और कारण स्तर होते हैं। उन्हीं के अनुसार उनके गुणों का निरूपण किया जाता है। प्याज और लहसुन में स्थूल दृष्टि से थोड़ी सी बदबू के अतिरिक्त अन्य सब गुण-ही-गुण हैं पर कारण दृष्टि से उनमें तामसिकता की प्रधानता है। सेवन करने वालों में काम विकार और क्रोध भड़काते हैं इसलिए इन्हें त्याज्य माना जाता है।

गंगा भी स्थूल दृष्टि से, एक आर्थिक लाभ वाली उपयोगी नदी मात्र है। सूक्ष्म दृष्टि से उसमें आरोग्य वृद्धि का विशेष गुण है, किन्तु कारण दृष्टि से उसकी महिमा एवं महत्ता अपार है। उसकी कल-कल ध्वनि कानों को पवित्र करती है, उसके दर्शन से नेत्रों की कुवासनाएं शान्त होती हैं, उसकी समीपता से मन के कुविचारों पर अंकुश लगता है, उसके स्नान और पान से अन्तःकरण की भावनाएं सात्विक बनती हैं। मनुष्य के रोम-रोम में जन्म-जन्मान्तरों से संचित दुष्प्रवृत्तियां रमी होती हैं, इन्हीं के उभार से मनुष्य दुष्कर्म करने का थोड़ा-सा भी अवसर मिलने पर फिसल पड़ता है और न चाहते हुए भी वरवस दुष्कर्म कर बैठता है। यदि इन संस्कारजन्य प्रवृत्तियों पर अंकुश लग सके तो मनुष्य बहुत से पापों से बच सकता है।

गंगा के माहात्म्य में जगह-जगह उसके पाप नाशक गुण का वर्णन किया गया है उसका तात्पर्य इन्हीं मानसिक दुष्प्रवृत्तियों से है जो अवसर आने पर, प्रलोभन उत्पन्न होने पर कुमार्ग की ओर, कुकर्म की ओर धकेल देती है। गंगा का सान्निध्य, इनके ऊपर एक शक्तिशाली अंकुश के समान है। गंगा माहात्म्य में पापनाश का मूल तत्त्व यही अंकुश है।

कई लोग सोचते हैं कि किये हुए दुष्कर्मों का फल हमें गंगा स्नान करने के बाद न भोगना पड़ेगा, यह सोचना गलत है। किये हुए शुभ-अशुभ कर्मों का प्रतिफल तो भोगना ही पड़ता है, वह स्नान आदि साधारण उपायों से छूट नहीं सकता। साधारणतया प्रत्येक कर्म का फल भोगना ही पड़ता है। पर यदि उससे भी छुटकारा पाना हो तो प्रायश्चित और तपश्चर्या का कष्ट साध्य उपाय ही उसका माध्यम हो सकता है। चोरी करने वाले को जेल होती है, पर यदि चोर अपनी भूल मानकर अपना पाप प्रकट कर दें, चुराई हुई वस्तु लौटा दें और जितना दण्ड कानून से मिलना चाहिए उतना दण्ड भुगतने को स्वेच्छा पूर्वक तैयार हो जाय तो उसे जेल से छूट मिल सकती है। जैसे गोपाल ने घनश्याम की चोरी की। कुछ दिन बाद उसे सद्बुद्धि आई। चोरी के पाप की भयंकरता को समझा। अब वह उस पाप से छूटना चाहता है। उसने अपनी अन्तरात्मा से सलाह ली। वह घनश्याम के पास पहुंचा। अपना पाप प्रकट किया। चुराई हुई वस्तुएं लौटा दीं और साथ ही उसे छह महीने की कानूनन सजा होनी चाहिए थी, उसके बदले में वह घनश्याम के यहां कैदी के तौर पर बिना वेतन मजदूरी करने को तैयार हो गया, साथ ही भविष्य में वैसा न करने की प्रतिज्ञा भी ली। ऐसी स्थिति में निश्चय ही घनश्याम को दया आवेगी, वह उसकी शुद्ध भावना का सम्मान भी करेगा। क्रोध के स्थान पर उस पर प्रेम करेगा और उसने जिस मजबूरी में चोरी की थी वह वस्तुएं तो खर्च कर डालीं पर अब चुराई हुई वस्तुएं लौटाने की व्यवस्था करने में उसे कितना कष्ट और त्यागपूर्ण दौड़—धूप करनी पड़ी उसे देखते हुए सम्भव है घनश्याम कुछ वस्तुएं लौटा भी दें और कम भी ले ले। साथ ही मानवता के नाते वह इतना तो अवश्य ही करेगा कि छह महीने तक कैदी के रूप में उसने जो निःशुल्क सेवा करने का प्रस्ताव किया था उसे अस्वीकार कर दे और गोपाल को गले लगाते हुए कहे—मित्र! तुम्हारा इतना अलौकिक साहस ही क्या कम है जो अपना पाप प्रकट कर दिया, वस्तुएं लौटा दीं। इतना भी इस दुनिया में कौन करता है? तुम्हारा सौजन्य सराहनीय है। भूल सभी से हो जाती है, पर उस भूल को स्वीकार करना और उसका प्रायश्चित्य करना यह तो किसी मनुष्य की महानता का सबसे बड़ा प्रमाण है। तुम महान् हो, तुमने जो साहस दिखाया उसके लिए मैं गदगद हूं। अब इतना मैं नहीं कर सकता कि तुम्हें कैदी की तरह छह महीने अपने घर में रखूं। मैंने तुम्हें क्षमा ही नहीं किया वरन् अपना सम्मानास्पद मित्र भी माना है। आओ—हम लोग गले मिलें और एक दूसरे के सच्चे मित्र बन कर रहें।

इस प्रकार प्रायश्चित्य में ही चुराने वाले के मन की कंपकंपी का और जिसका चुराया गया था उसके रोष एवं शाप का शमन हो सकता है। न्यायाधीश को भी अपने न्याय दण्ड का प्रयोग करने की माथापच्ची नहीं करनी पड़ती। शास्त्रकारों ने उन सभी पाप कर्मों के प्रायश्चित्य बताये हैं जो किये जा चुके और जिनके दण्ड मिलने निश्चित हैं। इन प्रायश्चित्यों के आधार पर मनुष्य स्वयं अपने आपको सुधार सकता है और उनके दण्ड को तपश्चर्या आदि के रूप में भुगत सकता है। किये जा चुके पापों की निवृत्ति का तो प्रायश्चित्य ही एक मात्र उपाय है जो गंगा तट पर और भी सुगमता से हो सकता है। पर गंगा माहात्म्य का वर्णन करते हुए शास्त्रकारों ने जिन पापों के नाश का उल्लेख किया है वे मनोगत कुसंस्कार ही हैं। इनकी गणना भी मानसिक पापों में ही है, उनका उफान रुक जाना भी एक प्रकार से भावी पाप नष्ट हो जाना ही है। पिछले और अनेक जन्मों के पाप नष्ट हो जाते हैं। इसका तात्पर्य यही है कि पिछले अनेक जन्मों के संचित उन कुसंस्कारों का शमन होता है जो पाप कर्मों के वास्तविक उत्पादक हैं।

गंगा के सान्निध्य से इन पाप वृत्तियों के नष्ट होने के अनेकों शास्त्र प्रमाण मिलते हैं। पद्मपुराण के सृष्टि खण्ड, अध्याय 60, 29 और 43 में इस प्रकार के कतिपय श्लोक हैं, उनमें से कुछ नीचे देखिये—

गंगेति स्मरणादेव क्षयं याति च पातकम् ।

कीर्तनादतिपापानि दर्शनाद्गुरुकल्मषम् ।।

गंगाजी के नाम के स्मरण-मात्र से पातक, कीर्तन से अतिपातक और दर्शन से भारी-भारी पाप (महापातक) भी नष्ट हो जाते हैं।

स्नानात् पानाच्च जाह्नव्यां पितृणां तर्पणात्तथा ।

महापातकवृन्दानि क्षयं यान्ति दिने-दिने ।।

गंगाजी में स्नान, जलपान और पितरों का तर्पण करने से महापातकों की राशि का प्रतिदिन क्षय होता रहता है।

अग्निना दह्यते तूलं तृणं शुष्कं क्षणाद् यथा ।

तथा गंगाजलस्पर्शात् पुंसा पापं दहेत् क्षणात् ।।

जैसे अग्नि का संसर्ग होने से रुई और सूखे तिनके क्षणभर में भस्म हो जाते हैं उसी प्रकार गंगाजी अपने जल का स्पर्श होने पर मनुष्यों के सारे पाप एक ही क्षण में दग्ध कर देती हैं।

तपोभिर्बहुभिर्यज्ञैर्व्रतैर्नानाविधैस्तथा ।

पुरुदानैर्गतियां च गंगा संसेव्य तां लभेत् ।।

तपस्या, बहुत से यज्ञ, नाना प्रकार के व्रत तथा पुष्कल दान करने से जो गति प्राप्त होती है, गंगाजी सेवन करने से मनुष्य उसी गति को पा लेता है।

त्यजन्ति पितरं पुत्राः प्रियं पत्न्यः सुहृद्गणः ।

अन्ये च बान्धवाः सर्वे गंगा तान्न परित्यजेत् ।।

पुत्र पिता को, पत्नी प्रियतम को, सम्बन्धी अपने सम्बन्धी को तथा अन्य सब भाई-बन्धु भी प्रिय बन्धु को छोड़ देते हैं, किंतु गंगाजी अपने जनों का परित्याग नहीं करती।

विष्णुपादार्घसम्श्ते गंगे त्रिपथगामिनि ।

धर्मद्रवीति विख्याते पापं मे हर जाह्नवि ।।

गंगे! तुम विष्णु का चरणोदक होने के कारण परम पवित्र हो तथा तीनों लोकों में गमन करने से त्रिपथ गामिनी कहलाती हो। तुम्हारा जल धर्ममय है इसलिये तुम धर्मद्रवी के नाम से विख्यात हो। जाह्नवी! मेरे पाप हर लो।

विष्णु पादप्रसूतासि वैष्णवी विष्णुपूजिता ।

त्राहि मामेनसस्तस्मादाजन्ममरणान्तिकात् ।।

भगवान् विष्णु के चरणों से तुम्हारा प्रादुर्भाव हुआ है। तुम श्री विष्णु द्वारा सम्मानित वैष्णवी हो। मुझे जन्म से लेकर मृत्यु तक के पापों से बचाओ।

श्रद्धया धर्मसम्पूर्णे श्रीमता रजसा च ते ।

अमृतेन महादेवि भागीरथि पुनीहिम माम् ।।

धर्म से परिपूर्ण महादेवी भागीरथी! तुम अपने शोभायमान रजःकरणों से और अमृतमय जल से मुझे श्रद्धा-सम्पन्न बनाती हुई पवित्र करो।

गंगा गंगेतिं यो ब्रूयाद् योजनानां शतैरपि ।
मुच्यते सर्वपापेभ्यो विष्णुलोकं स गच्छति ॥

जो सैकड़ों योजन दूर से भी 'गंगा, गंगा' ऐसे कहता है वह सब पापों से मुक्त हो विष्णुलोक को प्राप्त होता है।

पाठयज्ञपरैः सर्वैर्मन्त्रहोमसुरार्चनैः ।
सा गतिर्न भवेज्जन्तोर्गङ्गाससेवया च या ॥

पाठ, यज्ञ, मन्त्र, होम और देवार्चन आदि समस्त शुभ कर्मों से भी जीव को वह गति नहीं मिलती, जो गंगाजी के सेवन से प्राप्त होती है।

विशेषात्कलिकाले च गंगा मोक्षप्रदा नृणाम् ।
कृच्छ्राच्च क्षीणंसत्त्वानामनन्तः पुण्यसम्भवतः ॥

विशेषतः इस कलिकाल में सत्त्वगुण से रहित मनुष्यों को कष्ट से छुड़ाने—मोक्ष प्रदान करने वाली गंगाजी ही हैं। गंगाजी के सेवन से अनन्त पुण्य का उदय होता है।

पुनाति कीर्तिता पापं दृष्टा भद्रं प्रयच्छति ।
अवगाढ़ा च पीता च पुनात्यासप्तमं कुलम् ॥

गंगाजी नाम लेने मात्र से पापों को धो देती हैं, दर्शन करने पर सप्त पीढ़ियों तक को पवित्र कर देती हैं।

न गंगासदृशं तीर्थ न देवः केशवात्परः ।
ब्राह्मणेभ्यः परं नास्ति एवमाह पितामहः ॥

ब्रह्मा जी का कथन है कि गंगा के समान तीर्थ, श्रीविष्णु से बढ़ कर देवता तथा ब्राह्मणों से बढ़कर कोई पूज्य नहीं है।

तीर्थनां तु परं तीर्थ तदीनामुत्तमा नदी ।
मोक्षदा सर्वभूतानां महापातकिनामपि ॥

गंगा तीर्थों में श्रेष्ठ तीर्थ, नदियों में उत्तम नदी तथा सम्पूर्ण महापातकियों को भी मोक्ष देने वाली है।

सर्वेषां चैव भूतानां पापोपहतचेतसाम् ।
गतिरन्यत्र मर्त्यानां नास्ति गंगासमा गतिः ॥

जिनका चित्त पाप से दूषित है, ऐसे समस्त प्राणियों और मनुष्यों की गंगा के सिवा अन्यत्र गति नहीं है।

पवित्राणां पवित्रं या मंगलानां च मंगलम् ।
महेश्वरशिरोभ्रष्टा सर्वापापहरा शुभा ॥

भगवान् शंकर के मस्तक से होकर निकली हुई गंगा सब पापों को हरने वाली और शुभकारिणी हैं। वे पवित्रों को भी पवित्र करने वाली और मंगलमय पदार्थों के लिये भी मंगलकारिणी है।

कहा भी गया है—"औषधि जाह्नवी तोयं वैद्यो नारायणः हरिः।" अर्थात् आध्यात्मिक रोगों की दवा गंगाजल है और इन रोगों के रोगियों के चिकित्सक नारायण हरि परमात्मा हैं। उन्हीं की कृपा से आन्तरिक पाप-दोषों का समाधान होता है। पाप वृत्तियां एक प्रकार की आध्यात्मिक बीमारियां ही हैं। इनका उपचार सांसारिक उपायों से नहीं वरन् गंगा तट पर निवास करते हुए नारायण हरि की, परब्रह्म परमात्मा की उपासना करने में ही है।

____***____

सुनसान की झोंपड़ी

****

इस झोंपड़ी के चारों ओर सन्नाटा छाया हुआ है। प्रकृति स्तब्ध। सुनसान का सूनापन अखर रहा था। दिन बीता, रात आई। अनभ्यस्त वातावरण के कारण नींद नहीं आ रही थीं। हिंस्र पशु, चोर, सांप, भूत आदि तो नहीं पर अकेलापन डरा रहा था। शरीर के लिये करवटें बदलने के अतिरिक्त कुछ काम न था। मस्तिष्क खाली था, चिन्तन की पुरानी आदत सक्रिय हो उठी। सोचने लगा—अकेलेपन का डर क्यों लगता है?

भीतर से एक समाधान उपजा—मनुष्य समष्टि का अंग है। उसका पोषण समष्टि द्वारा ही हुआ है। जल तत्त्व से ओत-प्रोत मछली का शरीर जैसे जल में ही जीवित रहता है वैसे ही समष्टि का एक अंग, समाज का एक घटक, व्यापक चेतना का एक स्फुल्लिंग होने के कारण उसे समूह में ही आनन्द आता है। अकेलेपन में उस व्यापक समूह चेतना से असंबद्ध हो जाने के कारण आन्तरिक पोषण बन्द हो जाता है, इस अभाव की बेचैनी ही सूनेपन का डर हो सकता है।

कल्पना ने और आगे दौड़ लगाई। स्थापित मान्यता की पुष्टि में उसने जीवन के अनेक संस्मरण ढूंढ़ निकाले। सूनेपन के, अकेले विचरण करने के अनेक प्रसंग याद आये, उनमें आनन्द नहीं था, समय ही काटा गया था। स्वाधीनता संग्राम में जेल यात्रा के उन दिनों की याद आई जब काल कोठरी में बन्द रहना पड़ा था। वैसे उस कोठरी में कोई कष्ट न था पर सूनेपन का मानसिक दबाव बहुत पड़ा था एक महीने बाद जब कोठरी से छुटकारा मिला तो शरीर पके आम की तरह पीला पड़ गया था। खड़े होने में आंखों तले अंधेरा आता था।

चूंकि सूनापन बुरा लग रहा था, इसलिए मस्तिष्क के सारे कल पुर्जे उसकी बुराई साबित करने में जी जान से लगे हुये थे। मस्तिष्क एक जानदार नौकर के समान ही तो ठहरा। अन्तस् की भावना और मान्यता जैसी होती है उसी के अनुरूप वह विचारों का, तर्कों, प्रमाणों, कारणों और उदाहरणों का पहाड़ जमा कर देता है। बात सही है या गलत यह निर्णय करना विवेक बुद्धि का काम है। मस्तिष्क की जिम्मेदारी तो इतनी भर है कि अभिरुचि जिधर भी चले उसके समर्थन के लिये, औचित्य सिद्ध करने के लिए आवश्यक विचार सामग्री उपस्थित कर दें अपना मन भी इस समय वही कर रहा था।

मस्तिष्क ने अब दार्शनिक ढंग से सोचना आरम्भ कर दिया—स्वार्थी लोग अपने आपको अकेला मानते हैं, अकेले के लाभ हानि की ही बात सोचते हैं, उन्हें अपना कोई नहीं दीखता, इसलिए वे सामूहिक के आनन्द से वंचित रहते हैं। उनका अन्तिम सूने मरघट की तरह सांय-सांय करता रहता है। ऐसे अनेकों परिचित व्यक्तियों के जीवन चित्र सामने आ खड़े हुए जिन्हें धन-वैभव की, श्री समृद्धि की कमी नहीं, पर स्वार्थ सीमित होने के कारण सभी उन्हें पराये लगते हैं, सभी की उन्हें शिकायत और कष्ट है।

विचार प्रवाह अपनी दिशा में तीव्र गति से दौड़ा चला जा रहा था। लगता था वह सूनेपन को अनुपयुक्त ही नहीं हानिकर और कष्टदायक भी सिद्ध करके छोड़ेगा। तब अभिरुचि अपना प्रस्ताव उपस्थित करेगी—इस मूर्खता में पड़े रहने से क्या लाभ? अकेले में रहने की अपेक्षा जन-समूह में रह कर ही जो काम्य है, वह सब क्यों न प्राप्त किया जाय?

विवेक ने मन की गलत दौड़ को पहचाना और कहा—यदि सूनापन ऐसा ही अनुपयुक्त होता तो ऋषि और मुनि, साधक और सिद्ध, विचारक और वैज्ञानिक क्यों उसे खोजते? क्यों उस वातावरण में रहते? यदि एकान्त में कोई महत्व न होता, तो समाधि-

सुख और आत्म-दर्शन के लिये उसकी तलाश क्यों होती? स्वाध्याय और चिन्तन के लिए, तप और ध्यान के लिए क्यों सूनापन ढूंढ़ा जाता? दूरदर्शी महापुरुषों का मूल्यवान् समय क्यों उस असुखकर अकेलेपन में व्यतीत होता?

लगाम खींचने पर जैसे घोड़ा रुक जाता है उसी प्रकार वह सूनेपन को कष्ट कर सिद्ध करने वाला विचार प्रवाह भी रुक गया। निष्ठा ने कहा—एकान्त साधना की आत्म-प्रेरणा असत् नहीं हो सकती। निष्ठा ने कहा—जो शक्ति इस मार्ग पर खींच लाई है, वह गलत मार्ग-दर्शन नहीं कर सकती। भावना ने कहा—जीव अकेला आता है, अकेला जाता है, अकेला ही अपनी शरीर रूपी कोठरी में बैठा रहता है, क्या इस निर्धारित एकान्त विधान में उसे कुछ असुखकर प्रतीत होता है? सूर्य अकेला चलता है, चन्द्रमा अकेला उदय होता है, वायु अकेला बहती है। इसमें उन्हें कुछ कष्ट है?

विचार से विचार कटते हैं, इस मनः शास्त्र के सिद्धान्त ने अपना पूरा काम किया। आधी घड़ी पूर्व जो विचार अपनी पूर्णता अनुभव कर रहे थे, अब वे कटे वृक्ष की तरह गिर पड़े। प्रतिरोधी विचारों ने उन्हें परास्त कर दिया। आत्मवेत्ता इसी लिए अशुभ विचारों को शुभ विचारों से काटने का महत्व बताते हैं। बुरे से बुरे विचार चाहे वे कितने प्रबल क्यों न हों, उत्तम प्रतिपक्षी विचारों से काटे जा सकते हैं। अशुद्ध मान्यताओं को शुद्ध मान्यताओं के अनुरूप कैसे बनाया जा सकता है, यह उस सूनी रात में करवटें बदलते हुए मैंने प्रत्यक्ष देखा। अब मस्तिष्क एकांत की उपयोगिता, आवश्यकता और महत्ता पर विचार करने लगा।

*** *** ***

रात धीरे-धीरे बीतने लगी। अनिद्रा से ऊबकर कुटिया से बाहर निकला तो देखा कि गंगा की धारा अपने प्रियतम समुद्र से मिलने के लिये व्याकुल प्रेयसी की भांति तीव्र गति से दौड़ी चली जा रही थी। रास्ते में पड़े हुए पत्थर उसका मार्ग अवरुद्ध करने का प्रयत्न करते पर वह उनके रोके रुक नहीं पा रही थी। अनेकों पाषाण खण्डों की चोट से उसके अंग प्रत्यंग घायल हो रहे थे तो भी वह न किसी की शिकायत करती थी और न निराश होती थी। इन बाधाओं का उसे ध्यान भी न था, अंधेरे का, सुनसान का उसे भय न था। अपने हृदयेश्वर के मिलन की व्याकुलता उसे इन सब बातों का ध्यान भी न आने देती थी। प्रिय के ध्यान में निमग्न 'हर-हर, कल-कल' का प्रेग-गीत गाती हुई गंगा निद्रा और विश्राम को तिलांजलि दे कर चलने से ही लौ लगाए हुए थी।

चन्द्रमा सिर के ऊपर आ पहुंचा था। गंगा की लहरों में उसके अनेकों प्रतिबिम्ब चमक रहे थे। मानो एक ही ब्रह्म अनेक शरीरों में प्रविष्ट होकर एक से अनेक होने की अपनी माया दृश्य रूप से समझा रहा हो। दृश्य बड़ा सुहावना था। कुटिया से निकल कर गंगातट के एक बड़े शिलाखण्ड पर जा बैठा और निर्निमेष होकर उस सुन्दर दृश्य को देखने लगा। थोड़ी देर में झपकी लगी और उस शीतल शिला खण्ड पर ही नींद आ गई।

लगा कि वह जल धारा कमल पुष्प सी सुन्दर एक देव कन्या के रूप में परिणित होती है। वह अलौकिक शांति, समुद्र सी सौम्य मुद्रा में ऐसी लगती थी मानो इस पृथ्वी की सारी पवित्रता एकत्रित होकर मानुषी शरीर में अवतरित हो रही हो। वह रुकी नहीं, समीप ही उस शिलाखण्ड पर आकर विराजमान हो गई। लगा—मानो जागृत अवस्था में ही यह सब देखा जा रहा हो।

उस देव कन्या ने धीरे-धीरे अत्यन्त शांत भाव से मुधर वाणी में कुछ कहना आरम्भ किया। मैं मन्त्र मोहित की तरह एकचित्त होकर सुनने लगा। वह बोली—नर तनु धारी आत्मा, तू अपने को इन निर्जन वन में अकेला मन मान। दृष्टि पसार कर देख चारों ओर तू ही बिखरा पड़ा है। मनुष्य तक अपने को सीमित मत मान। इस विशाल सृष्टि में मनुष्य भी एक छोटा-सा प्राणी है। उसका भी एक स्थान है, पर सब कुछ वही नहीं है। जहां मनुष्य नहीं वहां सूना है ऐसा क्यों माना जाय? अन्य जड़ चेतन माने जाने वाले जीव भी

विश्वात्मा के वैसे ही प्रिय पुत्र हैं जैसा मनुष्य। तू उन्हें क्यों अपना सहोदर नहीं मानता? उनमें क्यों अपनी आत्मा नहीं देखता? उन्हें क्यों अपना सहचर नहीं समझता? इस निर्जन में मनुष्य नहीं है, पर अन्य अगणित जीवधारी मौजूद हैं। पशु-पक्षियों की, कीट-पतंगों की, वृक्ष वनस्पतियों की, अनेक योनियां इस गिरि कानन में निवास करती हैं। सभी में आत्मा है, सभी में भावना है। यदि तू इन अचेतन समझे जाने वाले चेतनों की आत्मा से अपनी आत्मा को मिला सके तो ए पथिक! तू अपनी खंड-आत्मा को समग्र-आत्मा के रूप में देख सकेगा।''

धरती पर अवतरित हुई वह दिव्य सौंदर्य की अद्भुत प्रतिमा देव कन्या बिना रुके कहती ही जा रही थी—''मनुष्य को भगवान् ने बुद्धि दी, पर वह अभागा उसका सुख कहां ले सका? तृष्णा और वासना में उसने इस दैवी वरदान का दुरुपयोग किया और जो आनन्द मिल सकता था उससे वंचित हो गया। वह प्रशंसा के योग्य प्राणी, करुणा का पात्र है। पर सृष्टि के अन्य जीव इस प्रकार की मूर्खता नहीं करते। उनमें चेतन की मात्रा न्यून भले ही हो पर भावना को उनकी भावना के साथ मिला कर तो देख। अकेलापन कहां-कहां है, सभी ही तेरे सहचर हैं। सभी तो तेरे बन्धु-बान्धव हैं।''

*** *** ***

करवट बदलते ही नींद की झपकी खुल गई। हड़बड़ा कर उठ बैठा। चारों ओर दृष्टि दौड़ाई तो वह अमृत-सा सुन्दर सन्देश सुनाने वाली देव कन्या वहां न थी। लगा मानों वह इसी सरिता में समा गई हो। मानुषी रूप छोड़कर जलधारा में परिणत हो गई हो। वे मनुष्य की भाषा में कहे गये शब्द सुनाई नहीं पड़ते थे, पर हर-हर कल-कल की ध्वनि में भाव वे ही गूंज रहे थे, संदेश वही मौजूद था। ये चमड़े वाले कान उसे सुन तो नहीं पा रहे थे पर कानों की आत्मा उसे अब भी समझ रही थी, ग्रहण कर रही थी।

यह जागृत था या स्वप्न? सत्य था या भ्रम? मेरे अपने विचार थे या दिव्य संदेश? कुछ समझ नहीं पा रहा था। आंखें मलीं सिर पर हाथ फिराया। जो सुना, देखा था, उसे ढूंढ़ने का पुनः प्रयत्न किया। पर कुछ मिल नहीं पा रहा था, कुछ समाधान हो नहीं रहा था।

इतने में देखा कि उछलती हुई लहरों पर थिरकते हुये अनेक चन्द्र प्रतिबिम्ब एक रूप होकर चारों ओर से इकट्ठे हो रहे हैं और मुसकराते हुए कुछ कह रहे हैं। इनकी बात सुनने की चेष्टा की तो नन्हे बालकों जैसे वे प्रतिबिम्ब कहने लगे—हम इतने चन्द्र तुम्हारे साथ खेलने के लिये, हंसने-मुस्कराने के लिये मौजूद हैं। क्या तुम हमें अपना सहचर न मानोगे? क्या हम अच्छे साथी नहीं हैं? मनुष्य! तुम अपनी स्वार्थी दुनिया में से आये हो, जहां जिससे जिसकी ममता होती है, जिससे जिसका स्वार्थ सधता है वह प्रिय लगता है। जिससे स्वार्थ सधा वह प्रिय, वह अपना। जिससे स्वार्थ न सधा वह पराया, वह बिराना। यही तुम्हारी दुनिया का दस्तूर है न उसे छोड़ो। हमारी दुनिया का दस्तूर सीखो। यहां संकीर्णता नहीं, यहां ममता नहीं, यहां स्वार्थ नहीं, यहां सभी अपने हैं। सब में अपनी ही आत्मा है ऐसा सोचा जाता है। तुम भी इसी प्रकार सोचो। फिर हम इतने चन्द्र बिम्बों के सहचर रहते तुम्हें सूनापन प्रतीत ही न होगा।

तुम तो यहां कुछ साधन करने आये हो न! साधना करने वाली इस गंगा को देखते नहीं, प्रियतम के प्रेम में तल्लीन होकर उससे मिलने के लिये कितनी तल्लीनता और आतुरता से चली जा रही है। रास्ते के विघ्न उसे कहां रोक पाते हैं? अन्धकार और अकेलेपन को वह कहां देखती है? लक्ष की यात्रा से एक क्षण के लिये भी उसका मन कहां विरत होता है? यह साधना का पथ अपनाना है, तो तुम्हें भी यही आदर्श अपनाना होगा। जब प्रियतम को पाने के लिए तुम्हारी आत्मा भी गंगा की धारा की तरह

द्रुतगामी होती तो कहां भीड़ में आकर्षण लगेगा और कहां सूनेपन में भय लगेगा? गंगा तट पर निवास करना है तो गंगा की प्रेम-साधना भी सीखो—साधक!

शीतल लहरों के साथ अनेक चन्द्र बालक नाच रहे थे। मानों अपनी मथुरा में कभी हुआ—रास, नृत्य प्रत्यक्ष हो रहा हो। लहरें गोपियां बनीं, चन्द्र ने कृष्ण का रूप धारण किया, हर गोपी के साथ एक कृष्ण! कैसा अद्भुत रास-नृत्य यह आंखें देख रही थीं। मन आनन्द से विभोर हो रहा था। ऋतम्भरा प्रज्ञा कह रही थी—देख, देख अपने प्रियतम की झांकी देख। हर काया में एक आत्मा उसी तरह नाच रही है जैसे गंगा की शुभ लहरों के साथ एक ही चन्द्रमा के अनेक बिम्ब नृत्य कर रहे हैं।

सारी रात बीत गई। ऊषा की अरुणिमा प्राची से प्रकट होने लगी। जो देखा वह अद्भुत था। सूनेपन का भय चला गया। कुटो की ओर पैर धीरे-धीरे लौट रहे थे। सूनेपन का प्रश्न अब भी मस्तिष्क में मौजूद था।

____***____

सुनसान के सहचर

****

मनुष्य की यह एक अद्भुत विशेषता है कि वह जिन परिस्थितियों में रहने लगता है उनका अभ्यस्त भी हो जाता है। जब मैंने इस निर्जन वन की सुनसान कुटियों में प्रवेश किया तो सब ओर सूना ही सूना लगता था। अन्तर का सूनापन जब बाहर निकल पड़ता तो सर्वत्र सुनसान ही दीखता था। पर अब जबकि अन्तर की लघुता धीरे-धीरे विस्तृत होती जा रही है, चारों ओर अपने ही अपने हंसते-बोलते नजर आते हैं। अब सूनापन कहां? अब अन्धेरे में डर किसका?

अमावस्या की अंधेरी रात, बादल घिरे हुए, छोटी-छोटी बूंदें, ठण्डी वायु का कम्बल को पार कर भीतर घुसने का प्रयत्न। छोटी-सी कुटिया में पत्तों की चटाई पर पड़ा हुआ यह शरीर आज फिर असुखकर अनभ्यस्तता अनुभव करने लगा। नींद आज फिर उचट गई। विचारों का प्रवाह फिर चल पड़ा। स्वजन सहचरों से भरे सुविधाओं से सम्पन्न घर और इस सघनतामिस्र की चादर लपेटे वायु के झोकों से थर-थर कांपती हुई जल से भीग कर टपकती पर्ण कुटी की तुलना होने लगी। दोनों के गुण-दोष गिने जाने लगे।

शरीर असुविधा अनुभव कर रहा था। मन भी उसी का सहचर ठहरा। वही क्यों इस असुविधा में प्रसन्न होता? दोनों की मिली भगत जो है। आत्मा के विरुद्ध ये दोनों एक हो जाते हैं। मस्तिष्क तो इनका खरीदा हुआ वकील है। जिसमें इनकी रुचि होती है उसी का समर्थन करते रहना इसने अपना व्यवसाय बनाया हुआ है। राजा के दरबारी जिस प्रकार हवा का रुख देखकर बात करने की कला में निपुण होते थे, राजा को प्रसन्न रखने, उसकी हां में हां मिलाने में दक्षता प्राप्त किये रहते थे, वैसा ही यह मस्तिष्क भी है। मन की रुचि देखकर उसी के अनुकूल यह विचार प्रवाह को छोड़ देता है। समर्थन में अगणित कारण हेतु, प्रयोजन और प्रमाण उपस्थित कर देना इसके बायें हाथ का खेल है। सुविधाजनक घर के गुण और इस कष्टकारक निर्जन के दोष बताने में वह बैरिस्टरों के कान काटने लगा। सनसनाती हुई हवा की तरह उसका अभिभाषण भी जोरों से चल रहा था।

इतने में सिरहाने की ओर छोटे से छेद में बैठे हुए झींगुर ने अपना मधुर संगीत गान आरम्भ कर दिया। एक से प्रोत्साहन पाकर दूसरा बोला। दूसरे की आवाज सुनकर तीसरा, फिर उससे चौथा, इस प्रकार उसी कुटी में अपने-अपने छेदों में बैठे कितने ही झींगुर एक साथ गाने लगे। उनका गायन यों उपेक्षा बुद्धि से तो अनेकों बार सुना था। उसे कर्कश, व्यर्थ और मूर्खतापूर्ण समझा था, पर आज मन के लिए कुछ और काम न था। वह ध्यान पूर्वक इस गायन के उतार, चढ़ावों को परखने लगा। निर्जन की निन्दा करते-करते वह थक भी गया था। इस चंचल बन्दर को हर घड़ी नये-नये प्रकार के काम जो चाहिए। झींगुर की गान-सभा का समा बंधा तो उसी में रस लेने लगा।

झींगुर ने बड़ा मधुर गान गाया। उसका गीत मनुष्य की भाषा में न था पर भाव वैसे ही मौजूद जैसे मनुष्य सोचता है। उसने गाया "हम असीम क्यों न बनें? असीमता का आनन्द क्यों न लें? सीमा ही बन्धन है, असीमता में मुक्ति का तत्व भरा है। जिसका इन्द्रियों में ही सुख सीमित है, जो कुछ चीजें और कुछ व्यक्तियों को ही अपना मानता है, जिसका स्वार्थ थोड़ी सी कामनाओं तक ही सीमित है, वह बेचारा क्षुद्र प्राणी, इस असीम परमात्मा के असीम विश्व में भरे हुए असीम आनन्द का भला कैसे अनुभव कर सकेगा? जीव तू असीम हो, आत्मा का असीम विस्तार कर, सर्वत्र आनन्द ही आनन्द बिखरा पड़ा है। उसे अनुभव कर और अमर हो जा।"

इकतारे पर जैसे वीतराग ज्ञानियों की मण्डली मिल-जुल कर कोई निर्वाण पद गा रही हो वैसे ही यह झींगुर अपना गान निर्विघ्न होकर गा रहे थे। किसी को सुनाने के लिए नहीं। स्वान्तः सुखाय ही उनका यह प्रयास चल रहा था। मैं भी उसी में विभोर हो गया। वर्षा के कारण क्षतिग्रस्त कुटिया से उत्पन्न असुविधा विस्मरण हो गई। सुनसान में शान्ति शील गाने वाले सहचरों ने उदासीनता को हटा कर उल्लास का वातावरण उत्पन्न कर दिया।

*** *** ***

पुरानी आदतें छूटने लगीं। मनुष्यों तक सीमित आत्मीयता ने बढ़ कर प्राणिमात्र तक विस्तृत होने का प्रयत्न किया तो अपनी दुनिया बहुत चौड़ी हो गई। मनुष्य के सहवास में सुख की अनुभूति ने बढ़कर अन्य प्राणियों के साथ भी वैसी ही सुखानुभूति करने की प्रक्रिया सीख ली। अब इस निर्जन वन में भी कहीं सूनापन दिखाई नहीं देता।

आज कुटिया से बाहर निकल कर इधर-उधर भ्रमण करने लगा तो चारों ओर सहचर दिखाई देने लगे। विशाल वृक्ष पिता और पितामह जैसे दीखने लगे। कषाय वत्कल धारी भोज-पत्र के पेड़ ऐसे लगते थे मानों गेरुआ कपड़े पहने कोई तपस्वी महात्मा खड़े होकर तप कर रहे हों। देवदारु और चीड़ के लम्बे-लम्बे पेड़ प्रहरी की तरह सावधान खड़े थे मानों मनुष्य जाति में प्रचलित दुर्बुद्धि को अपने समाज में न आने देने के लिए कटिबद्ध रहने का व्रत उनने लिया हुआ हो।

छोटे-छोटे लता-गुल्म नन्हे मुन्ने बच्चे-बच्चियों की तरह पंक्ति बना कर बैठे थे। पुष्पों में उनके अपने सिर सुशोभित थे। वायु के झोंकों के साथ हिलते हुए ऐसे लगते थे मानों प्रारम्भिक पाठशाला के छोटे छात्र सिर हिला हिला कर पहाड़े याद कर रहे हों। पल्लवों पर बैठे हुए पक्षी मधुर स्वर में ऐसे चहक रहे थे, मानों यक्ष गन्धर्वों की आत्माएं खिलौने जैसे सुन्दर आकार धारण करके इस वन श्री का गुणगान और अभिनन्दन करने के लिए ही स्वर्ग से उतरी हों। किशोर बालकों की तरह हिरन उछल कूद मचा रहे थे। जंगली भेड़ें (बरड़) ऐसी निश्चिन्त होकर घूम रही थी मानों इस प्रदेश की गृह लक्ष्मी यही हो। मन बहलाने के लिए चाबीदार कीमती खिलौनों की तरह छोटे-छोटे कीड़े पृथ्वी पर चल रहे थे। उनका रंग, रूप, चाल, ढाल सभी कुछ देखने योग्य था। उड़ते हुए पतंग, फूलों से अपने सौन्दर्य को प्रतिस्पर्धा कर रहे थे। हममें से कौन अधिक सुन्दर और कौन अधिक असुन्दर है इसकी होड़ उनमें लगी हुई थी।

नव यौवन का भार जिससे सम्भलने में न आ रहा हो ऐसी इतराती हुई पर्वतीय नदी बगल में ही बह रही थी। उसकी चंचलता और उच्छृंखलता, दर्प देखते ही बनता था। गंगा में और भी नदी आकर मिलती हैं। मिलन के संगम पर ऐसा लगता था मानों दो सहोदर बहिनें ससुराल जाते समय गले मिल रही हों, लिपट रही हों। पर्वत राज हिमालय ने अपनी सहस्र पुत्रियों (नदियों) का विवाह समुद्र के साथ किया है। ससुराल जाते समय में बहिनें कैसी आत्मीयता से मिलती हैं, संगम पर खड़े-खड़े इस दृश्य को देखते-देखते जी नहीं अघाता। लगता है हर घड़ी इसे देखते ही रहें।

वयोवृद्ध राज पुरुषों और लोक नायकों की तरह पर्वत शिखर दूर-दूर तक ऐसे बैठे थे मानो किसी गम्भीर समस्याओं को सुलझाने में दत्त-चित्त होकर संलग्न हों। हिमाच्छादित चोटियां उनके श्वेत केशों की झांकी करा रही थीं। उन पर उड़ते हुए छोटे बादल ऐसे लगते थे मानो ठण्ड से बचाने के लिए नई रुई का बढ़िया टोपा उन्हें पहनाया जा रहा है। कीमती शाल-दुशालों में उनके नग्न शरीर को लपेटा जा रहा हो।

जिधर भी दृष्टि उठती उधर एक विशाल कुटुम्ब अपने चारों ओर बैठा हुआ नजर आता था। उनके जवान न थी, वे बोलते न थे पर उनकी आत्मा में रहने वाला चेतन बिना शब्दों के ही बहुत कुछ कहता था। जो कहता था हृदय से कहता था और करके दिखाता था। ऐसी बिना शब्दों की किन्तु अत्यन्त मार्मिक वाणी इससे पहले सुनने को नहीं मिली थी। उनके शब्द सीधे आत्मा तक प्रवेश करते और रोम-रोम को झंकृत किये देते थे। अब सूनापन कहां? अब भय किसका? सब ओर सहचर ही सहचर जो बैठे थे।

*** *** ***

सुनहरी धूप ऊंचे पर्वत शिखरों से उतर कर पृथ्वी पर कुछ देर के लिए आ गई थी। मानो अविद्याग्रस्त हृदय में सत्संगवश स्वल्पस्थायी ज्ञान उदय हो गया। ऊंचे पहाड़ों की आड़ में सूरज इधर उधर ही छिपा रहता है केवल मध्यान्ह को ही कुछ घण्टों के लिये उनके दर्शन होते हैं उनकी किरणें सभी सुकुड़ते हुए जीवों में चेतना की एक लहर दौड़ा देती हैं। सभी में गतिशीलता और प्रसन्नता उमड़ने लगती है। आत्म ज्ञान का सूर्य भी प्रायः वासना और तृष्णा की चोटियां के पीछे छिपा रहता है पर जब कभी जहां कहीं वह उदय होगा वहीं उसकी सुनहरी रश्मियां एक दिव्य हलचल उत्पन्न करती हुई अवश्य दिखाई देंगी।

अपना शरीर भी स्वर्णिम रश्मियों का आनन्द लेने के लिए कुटिया से बाहर निकला और मखमल के कालीन सी बिछी हरी घास पर टहलने की दृष्टि से एक ओर चल पड़ा। कुछ ही दूर रंग-बिरंगे फूलों का एक बड़ा पठार था। आंखें उधर ही आकर्षित हुईं और पैर उसी दिशा में उठ चले।

छोटे बच्चे अपने सिर पर रंगीन टोपे पहने हुए पास-पास बैठकर किसी खेल की योजना बनाने में व्यस्त हों ऐसे लगते थे वे पुष्प सज्जित पौधे। मैं उन्हीं के बीच जाकर बैठ गया। लगा जैसे मैं भी एक फूल हूं। यदि ये पौधे मुझे भी अपना साथी बनालें तो मुझे भी अपने खोये बचपन पाने का पुण्य अवसर मिल जाय।

भावना आगे बढ़ी। जब अन्तराल हुलसता है तो तर्कवादी कुतर्की विचार भी ठण्डे पड़ जाते हैं। मनुष्य के भावों में प्रबल रचना शक्ति है वे अपनी दुनिया आप बसा लेते हैं। काल्पनिक ही नहीं शक्तिशाली भी सजीव भी। ईश्वर और देवताओं तक ही रचना उसने अपनी भावना के बल पर की है और उनमें अपनी श्रद्धा को पिरोकर उन्हें इतना महान बनाया है जितना कि वह स्वयं है। अपने भाव फूल बनने को मचले तो वैसा ही बनने में देर न थी। लगा कि इन पंक्ति बनाकर बैठे हुए पुष्प बालकों ने मुझे भी सहचर मान कर मुझे भी अपने खेल में भाग लेने के लिए सम्मिलित कर लिया है।

जिसके पास मैं बैठा था वह बड़े से पीले फूल वाला पौधा बड़ा हंसोड़ तथा वाचाल था। अपनी भाषा में उसने कहा—दोस्त, तुम मनुष्यों में व्यर्थ जा जन्मे। उनकी भी कोई जिन्दगी है, हर समय चिन्ता, हर समय उधेड़बुन, हर समय तनाव, हर समय कुढ़न। अब की बार तुम पौधे बनना, हमारे साथ रहना। देखते नहीं हम सब कितने प्रसन्न हैं, कितने खिलते हैं, जीवन को खेल मान कर जीने में कितनी शान्ति है, यह हम लोग जानते हैं। देखते नहीं हमारे भीतर आन्तरिक उल्लास सुगन्ध के रूप में बाहर निकल रहा है। हमारी हंसी फूलों के रूप में बिखरी पड़ रही है। सभी हमें प्यार करते हैं, सभी को हम प्रसन्नता प्रदान करते हैं। आनन्द से जीते हैं और जो पास आता है उसी को आनन्दित कर देते हैं। जीवन जीने की यही कला है। मनुष्य बुद्धिमानी का गर्व करता है पर किस काम की वह बुद्धिमानी जिससे जीवन की साधारण कला, हंस खेल कर जीने की प्रक्रिया भी हाथ आये।''

फूल ने कहा—''मित्र, तुम्हें ताना मारने के लिए नहीं, अपनी बड़ाई करने के लिए भी नहीं, यह मैंने एक तथ्य ही कहा है? अच्छा बताओ जब हम धनी, विद्वान्, गुणी, सम्पन्न, वीर और बलवान न होते हुए भी अपने जीवन को हंसते हुए तथा सुगन्ध फैलाते

हुए जी सकते हैं तो मनुष्य वैसा क्यों नहीं कर सकता? हमारी अपेक्षा असंख्य गुने साधन उपलब्ध होने पर भी यदि वह चिन्तित और असंतुष्ट रहता है तो क्या इसका कारण उसकी बुद्धिहीनता मानी जायगी?

"प्रिय, तुम बुद्धिमान हो जो उस बुद्धिहीनों को छोड़कर कुछ समय हमारे साथ हंसने खेलने चले आये। चाहो तो हम अकिंचनों से भी जीवन विद्या का एक महत्वपूर्ण तथ्य सीख सकते हो।"

मेरा मस्तक श्रद्धा से नत हो गया—"पुष्प मित्र, तुम धन्य हो। स्वल्प साधन होते हुए भी तुमको जीवन कैसे जीना चाहिये यह जानते हो। एक हम हैं—जो उपलब्ध सौभाग्य को कुढ़न में ही व्यतीत करते रहते हैं। मित्र, सच्चे उपदेशक हो, वाणी से नहीं जीवन से सिखाते हो, बाल सहचर, यहां सीखने आया हूं तो तुमसे बहुत सीख सकूंगा। सच्चे साथी की तरह सिखाने में संकोच न करना।"

हंसोड़ पीला पौधा खिलखिला कर हंस पड़ा। सिर हिला-हिलाकर वह स्वीकृति दे रहा था। और कहने लगे—सीखने की इच्छा रखने वाले के लिए पग-पग पर शिक्षक मौजूद हैं। पर आज सीखना कौन चाहता है। सभी तो अपनी अपूर्णता के अहंकार के मद में ऐंठे-ऐंठे से फिरते हैं। सीखने के लिए हृदय का द्वार खोल दिया जाय तो बहती हुई वायु की तरह शिक्षा, सच्ची शिक्षा स्वयमेव हमारे हृदय में प्रवेश करने लगे।"

***

विश्व समाज की सदस्यता

****

नित्य की तरह आज भी तीसरे पहर उस सुरम्य वनश्री के अवलोकन के लिए निकला। भ्रमण में जहां स्वास्थ्य संतुलन की, व्यायाम की दृष्टि रहती है वहां सूनेपन के सहचर से, इस निर्जन में निवास करने वाले परिजनों से कुशल क्षेम पूछने और उनसे मिलकर आनन्द लाभ करने की भावना भी रहती है। अपने आपको मात्र मनुष्य जाति का सदस्य मानने को संकुचित दृष्टि जब विस्तीर्ण होने लगी, तो वृक्ष-वनस्पति, पशु-पक्षी, कीट-पतंगों के प्रति भी ममता और आत्मीयता उमड़ी। ये परिजन मनुष्य की बोली नहीं बोलते और न उनकी सामाजिक प्रक्रिया ही मनुष्य जैसी है, फिर भी अपनी विचित्रताओं और विशेषताओं के कारण इन मनुष्येत्तर प्राणियों की दुनिया भी अपने स्थान पर बहुत ही महत्वपूर्ण है। जिस प्रकार धर्म, जति, रंग, प्रान्त, देश भाषा, भेष आदि के आधार पर मनुष्यों—मनुष्यों के बीच संकुचित साम्प्रदायिकता फैली हुई हैं, वैसी ही एक संकीर्णता यह भी है कि आत्मा अपने आपको केवल मनुष्य जाति का सदस्य माने। अन्य प्राणियों को अपने से भिन्न जाति का समझे या उन्हें अपने उपयोग की, शोषण को वस्तु समझे। प्रकृति के अगणित पुत्रों में से मनुष्य भी एक है। माना कि उसमें कुछ अपने ढंग से विशेषताएं हैं पर अन्य प्रकार की अगणित विशेषताएं सृष्टि के अन्य जीव-जन्तुओं में भी मौजूद हैं और वे भी इतनी बड़ी हैं कि मनुष्य उन्हें देखते हुए अपने आपको पिछड़ा हुआ ही मानेगा।

आज भ्रमण करते समय यही विचार मन में उठ रहे थे। आरम्भ में इन निर्जन के जो सदस्य जीव-जन्तु और वृक्ष-वनस्पति तुच्छ लगते थे, महत्वहीन प्रतीत होते थे, अब ध्यान पूर्वक देखने से वे भी महान् लगने लगे और ऐसा प्रतीत होने लगा कि भले ही मनुष्य को प्रकृति ने बुद्धि अधिक दे दी हो पर अन्य अनेकों उपहार उसने अपने इन निर्बुद्धि माने जाने वाले पुत्रों को भी दिये हैं। उन उपहारों को पाकर वे चाहें तो मनुष्य की अपेक्षा अपने आप पर कहीं अधिक गर्व कर सकते हैं।

इस प्रदेश में कितनी ही प्रकार की चिड़ियां हैं, जो प्रसन्नता पूर्वक दूर-दूर देशों तक उड़कर जाती हैं। पर्वतों को लांघती हैं। ऋतुओं के अनुसार अपने प्रदेश पंखों से उड़कर ही बदल लेती हैं। क्या मनुष्य को यह उड़ने की विभूति प्राप्त हो सकी है? हवाई जहाज बनाकर उसने एक भोंड़ा प्रयत्न किया तो है पर चिड़ियों के पंखों से उसकी क्या तुलना हो सकती है? अपने आपको सुन्दर बनाने के लिए सजावट की रंग—बिरंगी वस्तुएं उनसे आविष्कृत की हैं पर चित्र-विचित्र पंखों वाली , स्वर्ग की अप्सराओं जैसी चिड़ियों और तितलियों जैसी रूप सज्जा उसे कहां प्राप्त हुई है?

सर्दी से बचने के लिए लोग कितनी तरह के वस्त्रों का उपयोग करते हैं पर रोज ही आंखों के सामने गुजरने वाले बरड (जंगली भेड़) और रीछ के शरीर पर जमे हुए बालों जैसे गरम ऊनी कोट शायद अब तक किसी मनुष्य को उपलब्ध नहीं हुए। हर छिद्र से हर घड़ी दुर्गन्ध निकालने वाले मनुष्य की हर घड़ी अपने पुष्पों से सुगन्धि बखेरने वाले, लता—गुल्मों से क्या तुलना हो सकती है? साठ-सत्तर वर्ष में जीर्ण-शीर्ण होकर मरखप जाने वाले मनुष्य की इन अजगरों से क्या तुलना की जाय जो चार सौ वर्ष की आयु को हंसी खुशी पूरा कर लेते हैं। वट और पीपल के वृक्ष तो एक हजार वर्ष तक जीवित रहते हैं।

कस्तूरी मृग जो सामने वाले पठार पर छलांग मारते रहते हैं, किसी भी मनुष्य को दौड़ में परास्त कर सकते हैं। भूरे बाघों से मल्ल युद्ध में क्या कोई मनुष्य जीत सकता है? चींटी की तरह अधिक परिश्रम करने की सामर्थ्य भला किस आदमी में होगी? शहद

की मक्खी की तरह फूलों में से कौन मधु संचय कर सकता है? बिल्ली की तरह रात के घोर अन्धकार में देख सकने वाली दृष्टि किसे प्राप्त है? कुत्तों की तरह घ्राण शक्ति के आधार पर बहुत कुछ पहचान लेने की क्षमता भला किस को होगी? मछली की तरह निरन्तर जल में कौन रह सकता है? हंस के समान नीर-क्षीर विवेक किसे होगा? हाथी के समान बल किसी व्यक्ति में है? इन विशेषताओं युक्त प्राणियों के देखते हुए मनुष्य का यह गर्व करना मिथ्या मालूम पड़ता है कि वही संसार का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है।

आज के भ्रमण में यही विचार मन में घूमते रहे कि मनुष्य ही सब कुछ नहीं है, सर्वश्रेष्ठ भी नहीं है, सब का नेता भी नहीं है। उसे बुद्धि बल मिला, सही। उसके आधार पर उसने अपने सुख साधन बढ़ाये यह भी सही है। पर साथ ही यह भी सही है कि इसे पाकर उसने अनर्थ ही किया। सृष्टि के अन्य प्राणी जो उसके भाई थे, यह धरती, उनकी भी माता ही थी, उस पर जीवित रहने, फलने फूलने और स्वाधीन रहने का उन्हें भी अधिकार था; पर मनुष्य ने सब को पराधीन बना डाला, सब की सुविधा और स्वतन्त्रता को बुरी तरह पददलित कर डाला। पशुओं को जंजीरों से कसकर उससे अत्यधिक श्रम लेने के लिए पैशाचिक उत्पीड़न किया, उनके बच्चों के हक का दूध छीनकर स्वयं पीने लगा, निर्दयता पूर्वक वध करके उनका मांस खाने लगा। पक्षियों और जलचरों के जीवन को भी उसने अपनी स्वाद प्रियता और विलासिता के लिए बुरी तरह नष्ट किया। मांस के लिए, दवाओं के लिए, फैशन के लिए, विनोद के लिए उनके साथ कैसा नृशंस व्यवहार किया है, उस पर विचार करने से दम्भी मनुष्य की सारी नैतिकता मिथ्या ही प्रतीत होती है।

जिस प्रदेश में अपनी निर्जन कुटिया है, उसमें पेड़ पौधों के अतिरिक्त, जलचर, थलचर, नभचर जीव जन्तुओं की भी बहुतायत हैं। जब भ्रमण को निकलते हैं तो अनायास ही उनसे भेंट करने का अवसर मिलता है। आरम्भ के दिनों में वे डरते थे पर अब तो पहचान गये हैं। मुझे अपने कुटुम्ब का ही एक सदस्य मान लिया है। अब न वे मुझ से डरते हैं और न अपने को ही उनसे डर लगता है। दिन-दिन यह समीपता और घनिष्ठता बढ़ती जाती है। लगता है इस पृथ्वी पर ही एक महान् विश्व मौजूद है। इस विश्व में प्रेम, करुणा, मैत्री, सहयोग, सौजन्य, सौन्दर्य, शान्ति, सन्तोष, आदि स्वर्ग के सभी चिह्न मौजूद हैं। उससे मनुष्य दूर है। उसने अपनी एक छोटी सी दुनिया अलग बना रखी है—मनुष्यों की दुनिया। इस अहंकारी और दुष्ट प्राणी ने ज्ञान-विज्ञान की लम्बी-चौड़ी बातें बहुत की हैं। महानता और श्रेष्ठता के, धर्म और नैतिकता के लम्बे-चौड़े विवेचन किये हैं। पर सृष्टि के अन्य प्राणियों के साथ उसने जो दुर्व्यवहार किया है उससे उस सारे पाखण्ड का पर्दाफाश हो जाता है जो वह अपनी श्रेष्ठता, अपने समाज और सदाचार की श्रेष्ठता बखानते हुए प्रतिपादित किया करता है।

आज विचार बहुत गहरे उतर गये, रास्ता भूल गया, कितने ही पशु-पक्षियों को आंखें भर-भर कर देर तक देखता रहा। वे भी खड़े होकर मेरी विचारधारा का समर्थन करते रहे। मनुष्य ही इस कारण सृष्टि का श्रेष्ठ प्राणी नहीं माना जा सकता कि उसके पास दूसरों की अपेक्षा बुद्धि बल अधिक है। यदि बल ही बड़प्पन का चिह्न हो तो दस्यु, सामन्त, असुर, दानव, पिशाच, बेताल ब्रह्म राक्षस आदि की श्रेष्ठता को मस्तक नवाना पड़ेगा। श्रेष्ठता के चिन्ह हैं सत्य, प्रेम, न्याय, शील, संयम, उदारता, त्याग, सौजन्य, विवेक, सौहार्द्र। यदि इनका अभाव रहा तो बुद्धि का शस्त्र धारण किये हुए नर-पशु—उन विकराल नख और दांतों वाले हिंस्र पशुओं से कहीं अधिक भयंकर है। हिंस्र पशु भूखे होने पर ही आक्रमण करते हैं। पर यह बुद्धिधारी नर पशु तो तृष्णा और अहंकार के लिए ही भारी दुष्टता और क्रूरता का निरन्तर अभियान करता रहता है।

देर बहुत हो गई थी। कुटी पर लौटते-लौटते अंधेरा हो गया। उस अंधेरे में बहुत रात गये तक सोचता रहा कि—मनुष्य की ही भलाई की, उसी की सेवा की, उसी के सान्निध्य की, उसी की उन्नति की, बात जो हम सोचते रहते हैं क्या इसमें जातिगत पक्षपात भरा नहीं है, क्या यह संकुचित दृष्टिकोण नहीं है? सद्गुणों की अपेक्षा से ही मनुष्य को श्रेष्ठ माना जा सकता है, अन्यथा वह अन्य

जीवधारियों की तुलना में अधिक दुष्ट ही है। हमारा दृष्टिकोण मनुष्य की समस्याओं तक ही क्यों सीमित रहे? हमारा विवेक मनुष्येत्तर प्राणियों के साथ आत्मीयता बढ़ाने, उनके सुख-दुख में सम्मिलित होने के लिए अग्रसर क्यों न हो? हम अपने को मानव समाज की अपेक्षा विश्व समाज का एक सदस्य क्यों न मानें?

इन्हीं विचारों में रात बहुत बीत गई। विचारों के तीव्र दबाव में नींद बार-बार लगती-खुलती रही। सपने बहुत दीखे। हर स्वप्न में विभिन्न जीव-जन्तुओं के साथ क्रीड़ा, विनोद, स्नेह संलाप करने के दृश्य दिखाई देते रहे। उन सबके निष्कर्ष यही थे कि अपनी चेतना विभिन्न प्राणियों के साथ स्वजन सम्बन्धियों जैसी घनिष्ठता अनुभव कर रही है। आज के सपने बड़े ही आनन्ददायक थे। लगता रहा जैसे एक छोटे क्षेत्र से आगे बढ़कर आत्मा विशाल विस्तृत क्षेत्र को अपना क्रीड़ांगन बनाने के लिये अग्रसर हो रही है। कुछ दिन पहले इस प्रदेश का सुनसान अखरता था पर अब तो सुनसान जैसी कोई जगह दिखाई ही नहीं पड़ती। सभी जगह तो विनोद करने वाले सहचर मौजूद हैं। वे मनुष्य की तरह भले ही न बोलते हों, उनकी परम्पराएं मानव समाज जैसी भले ही न हों पर इन सहचरों की भावनाएं मनुष्य की अपेक्षा हर दृष्टि से उत्कृष्ट ही है। ऐसे क्षेत्र में रहते हुए जी ऊबने का अब कोई कारण प्रतीत नहीं होता।

लक्षपूर्ति की प्रतीक्षा—

आहार हलका हो जाने से नींद भी कम हो जाती है। फल तो अब दुर्लभ हैं पर शाकों से भी फलों वाली सात्विकता प्राप्त हो सकती है। यदि शाकाहार पर रहा जाय तो साधन के लिए चार पांच घंटे की नींद पर्याप्त हो जाती है।

जाड़े की रात लम्बी होती हैं। नींद जल्दी ही पूरी हो गई। आज चित्त कुछ चंचल था। यह साधना कब तक पूरी होगी? लक्ष कब तक प्राप्त होगा? सफलता कब तक मिलेगी? ऐसे-ऐसे विचार उठ रहे थे। विचारों की उलझन भी कैसी विचित्र है, जब उनका जंजाल उमड़ पड़ता है तो शान्ति की नाव डगमगाने लगती है। इस विचार प्रवाह में न भजन बन पड़ रहा था, न ध्यान लग रहा था। चित्त ऊबने लगा। इस ऊब को मिटाने के लिए कुटिया से निकला और बाहर टहलने लगा। आगे बढ़ने की इच्छा हुई। पैर चल पड़े। शीत तो अधिक था, पर गंगा माता की गोद में बैठने का आकर्षण भी कौन कम मधुर है, जिसके सामने शीत की परवा हो? तट से लगी हुई एक विशाल शिला जलधारा में काफी भीतर तक धंसी पड़ी थी। अपने बैठने का वही प्रिय स्थान था। कम्बल ओढ़ कर उसी पर जा बैठा। आकाश की ओर देखा तो तारों ने बताया कि अभी दो बजे हैं।

देर तक बैठा रहा तो झपकी आने लगी। गंगा का 'कलकल हरहर' शब्द भी मन को एकाग्र करने के लिये ऐसा ही है जैसे शरीर के लिए झूला-पालना! बच्चे को झूला पालने में डाल दिया जाय तो शरीर के साथ ही उसे नींद आने लगती है। जिस प्रदेश में इन दिनों यह शरीर है वहां का वातावरण इतना सौम्य है कि यह जलधारा का दिव्य कलरव ऐसा लगता है मानो वात्सल्यमयी माता लोरी सुना रही हो। चित्त एकाग्र होने के लिये, यह ध्वनि लहरी कलरव नादानुसंधान से किसी भी प्रकार कम नहीं है। मन को विश्राम मिला। चित्त शान्त हो गया। झपकी आने लगीं। लेटने को जी चाहा। पेट में घुटने लगाये। कम्बल ने ओढ़ने बिछाने के दोनों काम साध दिये। नींद के हलके झोंके आने आरम्भ हो गये।

लगा कि नीचे पड़ी शिला की आत्मा बोल रही है उसकी वाणी कम्बल को चीरती हुई, कानों से लेकर हृदय तक प्रवेश करने लगी। मन तंद्रित अवस्था में भी उसे ध्यानपूर्वक सुनने लगा।

शिला की आत्मा बोली—"साधक! क्या तुझे आत्मा में रस नहीं आता, जो सिद्धि की बात सोचता है? भगवान् के दर्शन से क्या भक्ति भावना में कम रस है? लक्ष प्राप्ति से क्या यात्रा मंजिल कम आनन्द दायक है? फल से क्या कर्म का माधुर्य फीका है?

मिलन से क्या विरह में कम गुदगुदा है? तू इस तथ्य को समझ। भगवान तो भक्त से ओत-प्रोत ही हैं। उसे मिलने में देरी ही क्या है? जीवन को साधना का आनन्द लूटने का अवसर देने के लिए ही उसने अपने को पर्दे में छिपा लिया है और झांक-झांक कर देखता रहता है कि मेरा, भक्त, भक्ति के आनन्द में सराबोर हो रहा है या नहीं? जब वह उस रस में निमग्न हो जाता है तो भगवान भी आकर उसके साथ रास नृत्य करने लगता है। सिद्धि वह है जब भक्त कहता है—मुझे सिद्धि नहीं भक्ति चाहिये। मुझे मिलन की नहीं विरह की अभिलाषा है। मुझे सफलता में नहीं कर्म में आनन्द है। मुझे वस्तु नहीं भाव चाहिए।''

शिला की आत्मा आगे भी कहती ही गई। उसने और भी कहा—साधक! सामने देख, गंगा अपने प्रियतम से मिलने के लिये कितनी आतुरता पूर्वक दौड़ी जा रही है। उसे इस दौड़ में आनन्द है। समुद्र से मिलन तो उसका कब का हो चुका पर उसमें उसने रस कहां पाया? जो आनन्द प्रयत्न में है, भावना में है, आकुलता में है वह मिलन में कहां है? गंगा उस मिलन से तृप्त नहीं हुई, उसने मिलन प्रयत्न को अनन्त काल तक जारी रखने का व्रत लिया हुआ है फिर अधीर साधक, तू ही क्या उतावली करता है। तेरा लक्ष महान् है, तेरा पथ महान् है, तू महान् है, तेरा कार्य भी महान् है। महान् उद्देश्य के लिए महान् धैर्य चाहिए। बालकों जैसी उतावली का यहां क्या प्रयोजन? सिद्धि कब तक मिलेगी यह सोचने में मन लगाने से क्या लाभ?''

शिला की आत्मा बिना रुके कहती ही रही। उसने आत्म विश्वास पूर्वक कहा—मुझे देख। मैं भी अपनी हस्ती को उस बड़ी हस्ती में मिला देने के लिए यहां पड़ी हूं। अपने इस स्थूल शरीर को—विशाल शिला खण्ड को—सूक्ष्म, अणु बना कर उस महासागर में मिला देने की साधना कर रही हूं। जल की प्रत्येक लहर से टकरा कर मेरे शरीर के कुछ कण टूटते हैं और वे रज कण बनकर समुद्र की ओर बह जाते हैं। इस तरह मिलन की बूंद-बूंद स्वाद ले रही हूं, तिल-तिल अपने को घिस रही हूं। इस प्रकार प्रेमी के प्रति आत्मदान का आनन्द कितने अधिक दिन तक लेने का रस ले रही हूं। यदि उतावले अन्य पत्थरों की तरह बीच जलधारा में पड़कर लुढ़कने लगती तो सम्भवतः कब की में लक्ष तक पहुंच जाती। फिर यह तिल-तिल अपने को प्रेमी के लिये घिसने का जो आनन्द है उससे तो वंचित ही रह गई होती?''

''उतावली न कर, उतावली में जलन है, खोज है, निराशा है, अस्थिरता है, निष्ठा की कमी है, क्षुद्रता है। इन दुर्गुणों के रहते कौन महान् बना है? और कौन लक्ष तक पहुंचा है? साधक का पहला लक्षण है—धैर्य! धैर्य की परीक्षा ही भक्ति की परीक्षा है। जो अधीर हो गया सो असफल हुआ। लोभ और भय के, निराशा और आवेश के—जो अवसर साधक के सामने आते हैं उनमें और कुछ नहीं, केवल धैर्य परखा जाता है। तू कैसा साधक है जो अभी इस पहले पाठ को भी नहीं पढ़ पाया?''

शिला की आत्मा ने बोलना बन्द कर दिया। मेरी तंद्रा टूटी। इस उपालम्भ ने अन्तःकरण को झकझोर डाला ''पहला पाठ भी अभी नहीं पढ़ा, और लगा है बड़ा साधक बनने।'' लज्जा और संकोच से सिर नीचा हो गया अपने को समझाता और धिक्कारता रहा। शिर ऊपर उठाया तो देखा, ऊषा की लाली उदय हो रही है। उठा और नित्य कर्म की तैयारी करने लगा।

***

हमारी जीवन साधना के अन्तरंग पक्ष-पहलू

****

हमारे बहुत से परिजन हमारी साधना और उसकी उपलब्धियों के बारे में कुछ अधिक जानना चाहते हैं और यह स्वाभाविक भी है। हमारे स्थूल जीवन के जितने अंश प्रकाश में आये हैं वे लोगों की दृष्टि में अद्भुत है। उनमें सिद्धियों, चमत्कारों और अलौकिकताओं की झलक देखी जा सकती है कौतूहल के पीछे उसके रहस्य जानने की उत्सुकता छिपी रहनी स्वाभाविक है सो अगर लोग हमारी आत्म कथा जानना चाहते हैं और उसके लिए इन दिनों विशेष रूप से दबाव देते हैं तो उसे अकारण नहीं कहा जा सकता।

यों हम कभी छिपाव के पक्ष में नहीं रहे—दुराव, छल, कपट हमारी आदत में नहीं। पर इन दिनों हमारी एक विवशता है कि जब तक रंग-मंच पर प्रत्यक्ष रूप से हमारा अभिनय चल रहा है तब तक वास्तविकता बना देने पर दर्शकों का आनन्द दूसरी दिशा में मुड़ जायगा और जिस कर्त्तव्य निष्ठा को सर्व साधारण में जगाना चाहते हैं वह प्रयोजन पूरा न हो सकेगा। लोग रहस्य वाद के जंजाल में उलझ जायेंगे, इससे हमारा व्यक्तित्व भी विवादास्पद बन जायगा और जो करने कराने हमें भेजा गया है उसमें भी हमें अड़चन पड़ेगी। निस्संदेह हमारा जीवन क्रम अलौकिकताओं से भरा पड़ा है रहस्य वाद के पर्दे इतने अधिक हैं कि उन्हें समय से पूर्व खोला जाना अहित कर ही होगा। पीछे वालों के लिये उसे छोड़ देते हैं कि वस्तुस्थिति की सचाई की प्रामाणिकता की कसौटी पर सकें और जितनी हर दृष्टि से परखी जाने पर सही निकले उससे यह अनुमान लगायें कि अध्यात्म विद्या कितनी समर्थ और सार गर्भित है। उस पारस से छूकर एक नगण्य सा व्यक्ति अपने लोहे जैसे तुच्छ कलेवर को स्वर्ण जैसा बहुमूल्य बनाने में कैसे समर्थ, सफल हो सका। इस दृष्टि से हमारे जीवन क्रम में प्रस्तुत हुए अनेक रहस्यमय तथ्यों की समय आने पर शोध की जा सकती है और उस समय उस कार्य में हमारे अति निकटवर्ती सहयोगी कुछ सहायता भी कर सकते हैं। पर अभी वह समय से पहले की बात है। इसलिए उस पर वैसे ही पर्दा पड़ा रहना चाहिये, जैसे कि अब तक पड़ा रहा है।

आत्म-कथा लिखने के आग्रह को केवल इस अंश तक पूरा कर सकते हैं कि हमारा साधना क्रम कैसे चला। वस्तुतः हमारी सारी उपलब्धियां प्रभु समर्पित साधनात्मक जीवन प्रक्रिया पर ही अवलम्बित हैं। उसे जान लेने से इस विषय में रुचि रखने वाले हर व्यक्ति को वह रास्ता मिल सकता है जिस पर चलकर कि आत्मिक प्रगति और उससे जुड़ी हुई विभूतियां प्राप्त करने का आनन्द लिया जा सकता है। पाठकों को अभी इतनी ही जानकारी हमारी कलम से मिल सकेगी सो उतने से ही इन दिनों सन्तोष करना पड़ेगा।

60 वर्ष के जीवन में से 15 वर्ष का आरम्भिक बाल जीवन कुछ विशेष महत्व का नहीं है। शेष 45 वर्ष हमने आध्यात्मिकता के प्रसंगों को अपने जीवन क्रम में सम्मिलित करते हुए बिताये हैं। पूजा उपासना उस प्रयोग में एक बहुत छोटा अंश रहा है। 24 वर्ष तक 6 घण्टे रोज की गायत्री उपासना को उतना महत्व नहीं दिया जाना चाहिये जितना कि मानसिक परिष्कार और भावनात्मक उत्कृष्टता के अभिवर्धन के प्रयत्नों को। यह माना जाना चाहिए कि यदि विचारणा और कार्य पद्धति को परिष्कृत न किया गया होता तो उपासना के कर्म काण्ड उसी तरह निरर्थक चले जाते जिस तरह कि अनेक पूजा-पत्री तक सीमित मन्त्र तन्त्रों का ताना-बाना बुनते रहने वालों को नितान्त खाली हाथ रहना पड़ता है। हमारी जीवन साधना को यदि सफल माना जाय और उसमें दीखने वाली अलौकिकता को खोजा जाय तो उसका प्रधान कारण हमारी अन्तरंग और बहिरंग स्थिति के परिष्कार को ही माना जाय। पूजा उपासना को गौण समझा जाय। आत्म-कथा के एक अंश को लिखने का दुस्साहस करते हुए हम एक ही तथ्य का प्रतिपादन करेंगे कि हमारा सारा मनोयोग और पुरुषार्थ आत्म-शोधन में लगा है। उपासना जो बन पड़ी है उसे भी हमने भाव परिष्कार के प्रयत्नों के साथ

पूरी तरह जोड़ रखा है। अब आत्मोद्घाटन के साधनात्मक प्रकरण पर प्रकाश डालने वाली कुछ चर्चायें पाठकों की जानकारी के लिये प्रस्तुत करते हैं—

साधनात्मक जीवन की तीन सीढ़ियां हैं। तीनों पर चढ़ते हुए एक लम्बी मंजिल पार कर ली गई। (1) मातृवत् पर दारेषु—(2) पर द्रव्येषु लोष्टवत् की मंजिल सरल थी वह अपने आपे से सम्बन्धित थी। लड़ना अपने से था, संभालना अपने घर को था, सो पूर्व जन्मों के संस्कार और समर्थ गुरु की सहायता से इतना सब आसानी से बन गया। मन न उतना दुराग्रही था, न दुष्ट जो कुमार्ग पर घसीटने की हिम्मत करता। यदाकदा उसने इधर-उधर भटकने की कल्पना भर की, पर जब प्रतिरोध का डण्डा जोर से शिर पर पड़ा तो सहम गया और चुपचाप सही राह पर चलता रहा। मन से लड़ते-झगड़ते—पाप और पतन से भी बचा लिया गया। अब जबकि सभी खतरे टल गए तब सन्तोष की सांस ले सकते हैं। दास कबीर ने झीनी-झीनी बीनी चदरिया, जतन से ओढ़ी थी और बिना दाग धब्बे ज्यों की त्यों वापिस कर दी थी। परमात्मा को अनेक धन्यवाद कि जिसने उसी राह पर हमें भी चला दिया और उन्हीं पर चिह्नों को ढूंढ़ते—तलाशते, उन्हीं आधारों को मजबूती के साथ पकड़े हुए उस स्थान तक पहुंच गये जहां लुढ़कने और गिरने मरने का खतरा नहीं रहता।

अध्यात्म की कर्म काण्डात्मक प्रक्रिया बहुत कठिन नहीं होती। संकल्प बल मजबूत हो, श्रद्धा और निष्ठा की मात्रा कम न पड़े तो मानसिक उद्विग्नता नहीं होती और शान्ति पूर्वक—मन लगने लगता है और उपासना के विधि विधान गड़बड़ाये बिना अपने ढर्रे पर चलते रहते हैं। मामूली दुकानदार सारी जिन्दगी एक ही दुकान पर एक ही ढर्रे से—पूरी दिलचस्पी के साथ काट लेता है। न मन ऊबता है न अरुचि होती है। पान, सिगरेट के दुकानदार 12-14 घण्टे अपने धन्धे को उत्साह और शांति के साथ आजीवन करते रहते हैं तो हमें 6-7 घण्टे प्रतिदिन की गायत्री साधना 24 वर्ष तक चलाने का संकल्प तोड़ने की क्या आवश्यकता पड़ती। मन उनका उचटता है जो उपासना को पान बीड़ी के, खेती बाड़ी के, मिठाई हलवाई के धन्धे से भी कम आवश्यक या कम लाभदायक समझते हैं बेकार के अरुचि कर कामों में मन नहीं लगता।

उपासना में ऊबने और अरुचि की अड़चन उन्हें आती है जिनकी आंतरिक आकांक्षा भौतिक सुख सुविधाओं को सर्वस्व मानने की है—जो पूजा पत्री की मनोकामनायें पूर्ण करने की बात सोचते रहते हैं उन्हें ही प्रारब्ध और पुरुषार्थ की न्यूनता के कारण अभीष्ट वरदान न मिलने पर खीज होती है। आरम्भ में भी आकांक्षा के प्रतिकूल काम में उदासी रहती है। यह स्थिति दूसरों की होती है सो वे मन न लगने की शिकायत करते रहते हैं। अपना स्तर दूसरा था। शरीर को बहाना भर माना—वस्तुओं को निर्वाह की भट्टी जलाने के लिए ईंधन भर समझा। महत्वाकांक्षायें बड़ा आदमी बनने और झूठी वाहवाही लूटने की कभी भी नहीं उठी। जी यही सोचता रहा हम आत्मा हैं तो क्यों न आत्मोत्कर्ष के लिये, आत्म-कल्याण के लिए, आत्म-शान्ति के लिए और आत्म विस्तार के लिये जियें? शरीर और अपने को जब दो भागों में बांट दिया शरीर के स्वार्थ और अपने स्वार्थ अलग बांट दिये तो वह अज्ञान की एक भारी दीवार पर गिर पड़ी और अंधेरे में उजाला हो गया।

जो लोग अपने को शरीर मान बैठते हैं, इन्द्रिय तृप्ति तक अपना आनन्द सीमित कर लेते हैं, वासना और तृष्णा की पूर्ति ही जिनका जीवनोद्देश्य बन जाता है, उनके लिये पैसा, अमीरी, बड़प्पन, प्रशंसा, पदवी पाना ही सब कुछ हो सकता है। वे आत्मकल्याण की बात भुला सकते हैं और लोभ, मोह, की सुनहरी हथकड़ी बेड़ी चाव पूर्वक पहने रह सकते हैं। उनके लिये श्रेय पथ पर चलने की असुविधा स्थिति न मिलने का बहाना सही हो सकता है। अन्तःकरण की आकांक्षायें ही सुविधायें जुटाती हैं। जब भौतिक सुख सम्पत्ति ही लक्ष्य बन गया तो चेतना का सारा प्रयास उन्हें ही जुटाने लगेगा। उपासना तो फिर एक हलकी सी खिलवाड़ रह जाती है।

करली तो ठीक, न करली तो ठीक। कौतूहल की दृष्टि से लोग देखा करते हैं कि इसका भी थोड़ा तमाशा देखलें कुछ मिलता है या नहीं। थोड़ी देर—अनमनी तबियत से—कुछ चमत्कार मिलने की दृष्टि से उलटी पुलटी पूजा-पत्री चलाई तो उस पर विश्वास नहीं जमा, सो वह छूट गई। छूटनी भी थी। श्रद्धा और विश्वास के अभाव में—जीवनोद्देश्य को प्राप्त करने की तीव्र लगन के अभाव में—कोई भी आत्मिक प्रगति न कर सका। यह सब तथ्य हमें अनायास ही विदित थे सो शरीर यात्रा और परिवार व्यवस्था जमाये भर रहने के लिए जितना अनिवार्य रूप से आवश्यक था, उतना ही ध्यान उस ओर दिया। उन प्रयत्नों को मशीन का किराया भर चुकाने की दृष्टि से किया। अन्तःकरण—लक्ष्य की प्राप्ति के लिए तत्पर रहा सो भौतिक प्रलोभनों और आकर्षणों में भटकने की कभी जरूरत ही अनुभव नहीं हुई।

जब अपना स्वरूप आत्मा की स्थिति में अनुभव होने लगा और अन्तःकरण परमेश्वर का परम पवित्र निवास गृह दीखने लगा तो चित्त अन्तर्मुखी हो गया। सोचने का तरीका इतना भर सीमित रह गया कि परमात्मा के राजकुमार आत्मा को क्या करना, किस दिशा में चलना चाहिये प्रश्न सरल थे और उत्तर सरल। केवल उत्कृष्ट जीवन जीना चाहिये और केवल आदर्शवादी कार्य पद्धति अपनानी चाहिये इस मार्ग पर चले नहीं उन्हें बहुत डर लगता है कि यह रीति-नीति अपनाई तो बहुत संकट आयेगा कौन गरीबी, तंगी, भर्त्सना और कठिनाई सहनी पड़ेगी। मित्र शत्रु हो जायेंगे और घर वाले विरोध करेंगे। अपने को भी आरम्भ में ही ऐसा लगा और अनुभव हुआ। आरम्भिक दिनों में हमें उपहास और भर्त्सना सहनी पड़ी। घर, परिवार के लोग ही सबसे अधिक आड़े आये। उन्हें लगा कि इसकी सहायता से जो भौतिक लाभ हमें मिलते है या मिलने वाले हैं उनमें कमी आ जायेगी सो वे अपनी हानि जिसमें समझते उसे हमारी मूर्खता बताते थे। पर यह बात देर तक नहीं चली। अपने आस्था ऊंची और सुदृढ़ हो तो झूठा विरोध देर तक नहीं टिकता। कुमार्ग पर चलने के कारण जो विरोध तिरस्कार उत्पन्न होता है वही स्थिर रहता है। नेकी अपने आप में एक विभूति है जो स्वयं को तारती है और दूसरे को भी। विरोधी और निन्दक कुछ ही दिनों में अपनी भूल समझ जाते हैं और रोड़ा अटकाने के बजाय सहयोग देने लगते हैं। आस्था जितनी ऊंची और जितनी मजबूत होगी प्रतिकूलता उतनी ही जल्दी अनुकूलता में बदल जाती है। परिवार का विरोध देर तक नहीं सहना पड़ा उनकी शंका कुशंका-वस्तुस्थिति समझ लेने पर दूर हो गई। आत्मिक जीवन में वस्तुतः घाटे की कोई बात नहीं है। बाहरी दृष्टि से गरीब जैसा दीखने पर भी ऐसा व्यक्ति आत्मिक शान्ति और सन्तोष के कारण बहुत प्रसन्न रहता है। यह प्रसन्नता और सन्तुष्टि हर किसी को प्रभावित करती है और विरोधियों को सहयोगी बनाने में पड़ी सहायक सिद्ध होती है। अपनी कठिनाई ऐसे ही हल हुई।

बड़प्पन की—लोभ, मोह वाहवाही की तृष्णा—की—हथकड़ी बेड़ी और तौक कटी तो लगा कि अब बन्धनों से मुक्ति मिल गई। इन्हीं तीन जंजीरों में जकड़ा हुआ प्राणी इस भव सागर में औंधे मुंह घसीटा जाता रहता है और अतृप्ति, उद्विग्नता की व्यथा वेदना से कराहता रहता है। इन तीनों की तुच्छता समझ ली जाय और लिप्सा को श्रद्धा में बदल लिया जाय तो समझना चाहिये कि माया के बन्धन टूट गये और जीवित रहते ही मुक्ति पाने का प्रयोजन पूरा हो गया ''नजरें, तेरी बदली कि नजारा बदल गया'' वाली उक्ति के अनुसार अपनी भावनायें आत्म-ज्ञान होते ही समाप्ति हो गई और जीवन लक्ष्य पूरा करने की आवश्यकता उंगली पकड़ कर मार्ग दर्शन करने लगी। फिर न अभाव रहा न असन्तोष। शरीर को जीवित भर रखने और परिवार की देश की, परिस्थिति जितने साधनों के सन्तुष्ट रहने की शिक्षा देकर लोभ, लिप्सा की जड़ काट दी। मन उधर से भटकना बन्द करदे तो कितनी अपार शक्ति मिलती है और जी कितना प्रफुल्लित रहता है यह तथ्य कोई भी अनुभव करके देख सकता है। पर लोग तो लोग ही ठहरे, तेल से आग बुझाना चाहते हैं। तृष्णा को दौलत से और वासना को भोग साधना से तृप्त करना चाहते हैं। इन्हें कौन समझाये कि यह प्रयास केवल दावानल ही भड़का सकते हैं। इस पथ पर चलने वाला मृग तृष्णा में ही भटक सकता है। मरघट के प्रेत-पिशाच की तरह उद्विग्न

ही रह सकता है कुकर्म ही कर सकता है। इसे कौन किसे समझाये? समझने और समझाने वाले दोनों विडम्बना मात्र करते हैं। सत्संग और प्रवचन बहुत सुने पर ऐसे ज्ञानी न मिले जो अध्यात्म के अन्तरंग में उतर कर अनुकरण की प्रेरणा देते। प्रवचन देने वाले के जीवन क्रम को उघाड़ा तो वहां सुनने वालों से भी अधिक गन्दगी पायी। सो जी खट्टा हो गया। बड़े-बड़े सत्संग, सम्मेलन होते तो पर अपना जी किसी को देखने सुनने के लिए न करता। प्रकाश मिला तो अपने ही भीतर। आत्मा में ही हिम्मत की और चारों ओर जकड़े पड़े जाल-जंजाल को काटने की बहादुरी दिखाई तो ही काम चला। दूसरों के सहारे बैठे रहते तो ज्ञानी बनने वाले शायद अपनी ही तरह हमें भी अज्ञानी बना देते। लगता है यदि किसी को प्रकाश मिलना होगा तो भीतर से ही मिलेगा। कम से कम अपने सम्बन्ध में तो यही तथ्य सिद्ध हुआ है। आत्मिक प्रगति में बाह्य अवरोधों के जो पहाड़ खड़े थे—उन्हें लक्ष्य के प्रति अटूट श्रद्धा रखे बिना—श्रेय पथ पर चलने का दुस्साहस संग्रह किये बिना निरस्त नहीं किया जा सकता था सो अपनी हिम्मत ही काम आई। जब अड़ गये तो सहायकों की भी कमी नहीं। गुरुदेव से लेकर भगवान तक सभी अपनी मंजिल को सरल बनाने में सहायता देने के लिये निरन्तर आते रहे और प्रगति पथ पर धीरे-धीरे किन्तु सुदृढ़ कदम आगे ही बढ़ते चले गये। अब तक की मंजिल इसी क्रम से पूरी हुई है।

लोग कहते रहते हैं कि आध्यात्मिक जीवन कठिन है। पर अपनी अनुभूति इससे सर्वथा विपरीत है। वासना और तृष्णाओं से घिरा और भरा जीवन ही वस्तुतः कठिन एवं जटिल है। इस स्तर का क्रिया कलाप अपनाने वाला व्यक्ति जितना श्रम करता है, जितना चिन्तित रहता है, जितनी व्यथा वेदना सहता है, जितना उलझा रहता है उसे देखते हुए आध्यात्मिक जीवन की असुविधा की तुलनात्मक दृष्टि से नगण्य ही कहा जा सकता है। इतना श्रम, इतना चिंतन, इतना उद्वेग—फिर भी क्षण भर चैन नहीं, कामनाओं की पूर्ति के लिये अथक प्रयास पर पूर्ति से पहले ही अभिलाषाओं का और सौ गुनी हो जाना इतना बड़ा जंजाल है कि बड़ी से बड़ी सफलतायें पाने के बाद भी व्यक्ति अतृप्त और असन्तुष्ट ही बना रहता है। छोटी सफलता पाने के लिये कितना थकाने वाला श्रम करना पड़ा था यह जानते हुए भी उससे बड़ी सफलता पाने के लिये चौगुने, दस गुने उत्तरदायित्व और ओढ़ लेता है। गति जितनी तीव्र होती जाती है उतनी ही समस्यायें उठती और उलझती हैं। उन्हीं सुलझाने में देह, मन और आत्मा का कचूमर निकलता है। सामान्य शारीरिक और मानसिक श्रम सुरसा जैसी अभिलाषाओं को पूर्ण करने में समर्थ नहीं होता अस्तु अनीति और अनाचार का मार्ग अपनाना पड़ता है। जघन्य पाप कर्म करते रहने पर अभिलाषायें कहीं पूर्ण होती हैं। निरन्तर की उद्विग्नता और भविष्य की अन्ध तमिस्रा दोनों को मिलाकर जितनी क्षति है उसे देखते हुए उपलब्धियों को अति तुच्छ ही कहा जा सकता है। आमतौर से लोग रोते, कलपते—रोष-शोक से सिसकते बिलखते किसी प्रकार जिन्दगी की लाश ढोते हैं। वस्तुतः इन्हीं को तपस्वी कहा जाना चाहिये इतना कष्ट त्याग, उद्वेग यदि आत्मिक प्रगति के पथ पर चलते हुए सहा जाता तो मनुष्य योगी, सिद्ध पुरुष महामानव देवता ही नहीं भगवान् भी बन सकता था। बेचारों ने पाया कुछ नहीं खोजा बहुत वस्तुतः यही सच्चे त्यागी, तपस्वी, परोपकारी, आत्मदानी, बलिदानी हैं जिन्होंने अथक परिश्रम से लेकर पाप की गठरी ढोने तक दुस्साहस कर डाला और जो कमाया था उसे साले, बहनोई, बेटे, भतीजों के लिये छोड़कर स्वयं खाली हाथ चल दिये। दूसरे के सुख के लिये स्वयं कष्ट सहने वाले वस्तुतः यहीं महात्मा, ज्ञानी, परमार्थी अपने को देखते हैं। वे स्वयं अपने को माया ग्रस्त, पापात्मा और पथ भ्रष्ट कहते हैं तो कहते रहें।

अपने इर्द-गिर्द घिरे असंख्यों मानव देहधारियों के अंतरंग और बहिरंग जीवन को—उसकी प्रतिक्रिया परिवर्णित को—जब हम देखते हैं तो लगता है इन सबसे अधिक सुखी और सुविधाजनक जीवन हमी ने जी लिया। हानि अधिक से अधिक इतनी हुई कि हमें कम सुविधा और कम सम्पन्नता का जीवन जीना पड़ा। सामान कम रहा और गरीब जैसे दीखे। सम्पदा न होने के कारण दुनिया वालों ने हमें छोटा समझा और अवहेलना की। बस इससे अधिक घाटा किसी आत्मवादी को हो भी नहीं सकता। पर इस अभाव से अपना कुछ भी हर्ज नहीं हुआ न कुछ काम रुका। दूसरे षटरस व्यंजन खाते रहे, हमने जौ, चला खाकर काम चलाया। दूसरे जीभ के

अत्याचार से पीड़ित होकर रुग्णता का कष्ट सहते रहे। हमारा सस्ता आहार ठीक तरह पचता रहा और निरोगता बनाये रहा। घाटे में हम क्या रहे। जीभ का क्षणिक जायका खोकर हमने कड़ी भूख में 'किवाड़ पापड़' होने की युक्ति सार्थक होती देखी जहां तक जायके का प्रश्न है उस दृष्टि से तुलना करने पर विलासियों की तुलना में हमारी जौ की रोटी अधिक मजेदार थी। धन के प्रयास में लगे लोग बढ़िया कपड़े, बढ़िया घर, बढ़िया साज-सज्जा, अपनाकर अपना अहंकार पूरा करने और लोगों पर रौब गांठने की विडम्बना में लगे रहे। हम स्वल्प साधनों में उनका ठाठ तो जमा नहीं सके पर सादगी ने जो आत्म-सन्तोष और आनन्द प्रदान किया उससे कम प्रसन्नता नहीं हुई और छिछोरे बचकाने लोग मखोल उड़ाते रहे हो पर वजनदार लोगों ने सादगी के पर्दे के पीछे झांकती हुई महानता को सराहा और उसके आगे सिर झुकाया। नफे में कौन रहा, विडम्बना बनाने वाले या हम? अपनी कसौटी पर अपने को आप कसने के बाद यही कहा जा सकता है कि कम परिश्रम, कम जोखिम और कम जिम्मेदारी लेकर हम शरीर, मन की दृष्टि से अधिक सुखी रहे और सम्मान भी कम नहीं पाया। पागलों की पागल प्रशंसा करे इसमें हमें कोई ऐतराज नहीं—पर अपने आप में हमें कोई शिकायत नहीं—आत्मा से लेकर परमात्मा तक और सज्जनों से लेकर दूरदर्शियों तक अपनी क्रिया पद्धति प्रशंसनीय मानी गई। जोखिम भी कम और नफा भी ज्यादा। खर्चीली, तृष्णा ग्रस्त, बनावटी, भारभूत जिन्दगी पाप और पतन के पहियों वाली गाड़ी पर ही ढोई जा सकती। अपना सब कुछ हलका रहा, बिस्तर बगल में दबाया और चल दिये। न थकान, न चिन्ता। हमारा व्यक्तिगत अनुभव यही है कि आदर्शवादी जीवन सरल है। उसमें प्रकाश, सन्तोष, उल्लास, सब कुछ है। दुष्ट लोग आक्रमण करके कुछ हानि पहुंचा दें तो यह जोखिम पापी और घृणित जीवन में भी कम कहां है। सन्त और सेवाभावियों को जितना त्रास सहना पड़ता है। प्रतिस्पर्धा, ईर्ष्या, द्वेष और प्रतिशोध के कारण भौतिक जीवन में और भी अधिक खतरा रहता है। कत्ल, खून डकैती, आक्रमण, ठगी की जो रोमांचकारी घटनाएं आये दिन सुनने को मिलती रहती हैं उनमें भौतिक जीवन जीने वाले ही अधिक मरते खपते देखे जाते हैं। इतने व्यक्ति यदि स्वेच्छा पूर्वक अपने प्राण और धन गंवाने को तत्पर हो जाते तो उन्हें देवता माना जाता और इतिहास धन्य हो जाता। ईसा, सुकरात, गांधी जैसे संत या उस वर्ग के लोग थोड़ी सी संख्या में ही मरे हैं। उनसे हजार गुने अधिक तो पतनोन्मुख क्षेत्र में ही हत्यायें होती रहती हैं। दान से गरीब हुए भामाशाह तो उंगलियों पर गिने जाने वाले ही मिलेंगे पर ठगी, विश्वासघात, व्यसन, व्यभिचार आक्रमण, मुकदमा, बीमारी, बेवकूफी, के शिकार होने वाले आये दिन अमीर से फकीर बनते लाखों व्यक्ति रोज ही देखे सुने जाते हैं। आत्मिक क्षेत्र में घाटा, आक्रमण, दुःख कम है, भौतिक में अधिक। इस तथ्य को यदि ठीक तरह से समझा गया होता तो लोग आदर्शवादी जीवन से घबराने और भौतिक लिप्सा में औंधे मुंह गिरने की बेवकूफी न करते। हमारा व्यक्तिगत अनुभव यही है कि तृष्णा वासना के प्रलोभन में व्यक्ति पाता कम खोता अधिक है। हमें जो खोना पड़ा वह नगण्य है जो पाया वह इतना अधिक है कि जी बार-बार यही सोचता है हर व्यक्ति को आध्यात्मिक जीवन जीने की उत्कृष्ट और आदर्शवादी परम्परा अपनाने के लिये कहा जाय। पर बात मुश्किल है। हमें अपने अनुभव साक्षी देकर उज्ज्वल जीवन जीने की गुहार मचाते मुद्दत हो गई पर कितनों ने उसे सुना और सुनने वालों में से कितनों ने उसे अपनाया?

मातृवत् पर दारेषु और पर दृव्येषु लौष्टवत् की दो सीढ़ियां चढ़ना भी अपने लिए कठिन पड़ता यदि जीवन का स्वरूप, प्रयोजन और उपयोग ठीक तरह समझने और जो श्रेयस्कर है उसी पर चलने की हिम्मत एवं बहादुरी न होती। जो शरीर को ही अपना स्वरूप मान बैठा और तृष्णा वासना के लिए आतुर रहा उसे आत्मिक प्रगति से वंचित रहना पड़ा है। पूजा, उपासना के छुट-पुट कर्मकाण्डों के बल पर किसी की नाव किनारे नहीं लगी है। हमें 24 वर्ष तक निरन्तर गायत्री पुरश्चरणों में निरत रहकर उपासना का एक महत्वपूर्ण अध्याय पूरा करना पड़ा। पर उस कर्मकाण्ड की सफलता का लाभ तभी सम्भव हो सका जब आत्मिक प्रगति की भावनात्मक प्रक्रिया को—जीवन साधना को उसके साथ जोड़े रखा। यदि दूसरे की तरह हम देवता को वश में करने या ठगने के लिए

उससे मनोकामनायें पूरी कराने के लिए जन्त्र-मन्त्र का—कर्मकाण्ड रचते रहते—जीवन-क्रम के निर्वाह की आवश्यकता न समझते तो निस्सन्देह अपने हाथ भी कुछ नहीं पड़ता। हम अगणित भजनानन्दी और तन्त्र-मन्त्र के कर्मकांडियों को जानते हैं जो अपनी धुन में मुद्दतों से लगे हैं। पूजा-पाठ उनका हमसे ज्यादा लम्बा और चौड़ा है पर बहुत बारीकी से जब उन्हें परखा तो छूंछ मात्र पाया, झूठी आत्म प्रवंचना उनमें जरूर पाई जिसके आधार पर वे यह सोचते थे कि उस जन्म में न सही—मरने के बाद उन्हें स्वर्ग सुख जरूर मिलेगा। पर हमारी परख और भविष्यवाणी यह है कि इनमें से एक को भी स्वर्ग आदि नहीं मिलने वाला है न उन्हें कोई सिद्धि चमत्कार हाथ लगने वाला है कर्मकाण्ड और पूजा पाठ में प्राणी तभी आते हैं जब साधक का जीवनक्रम उत्कृष्टता की दिशा में क्रम बद्ध रीति से अग्रसर हो रहा हो। उसका दृष्टिकोण सुधर रहा हो और क्रिया-कलाप में उस रीति-नीति का समावेश हो जो आत्मवादी के साथ आवश्यक रूप से जुड़े रहते हैं। धूर्त, स्वार्थी, कंजूस और शरीर तथा बेटे के लिये जीने वाले लोग यदि अपनी विचारणा और गतिविधियां परिष्कृत न करें तो उन्हें तीर्थ, व्रत, उपवास, कथा, कीर्तन, स्नान, ध्यान आदि का कुछ लाभ मिल सकेगा इसमें हमारी सहमति नहीं है। यह उपयोगी तो है पर इनकी उपयोगिता इतनी है जितनी कि लेख लिखने के लिये कलम की। कलम के बिना लेख कैसे लिखा जा सकता है? पूजा, उपासना के बिना आत्मिक प्रगति कैसे हो सकती है? यह जानने के साथ-साथ हमें यह भी जानना चाहिए कि बिना स्वाध्याय, अध्ययन, चिन्तन, मनन की बौद्धिक विकास प्रक्रिया सम्पन्न किये बिना केवल कलम कागज के आधार पर लेख नहीं लिखे जा सकता? न कवितायें बनाई जा सकती हैं? आन्तरिक उत्कृष्टता बौद्धिक विकास की तरह है और पूजा अच्छी कलम की तरह। दोनों का समन्वय होने से ही बात बनती है एक को हटा दिया जाय तो बात अधूरी रह जाती है। हमने यह ध्यान रखा कि साधना की गाड़ी एक पहिये पर न चल सकेगी इसलिये दोनों पहियों की व्यवस्था ठीक तरह जुटाई जाय। हमने उपासना कैसे की इसमें कोई रहस्य नहीं है। गायत्री महाविज्ञान में जैसा लिखा है उसी क्रम से हमारा इसी गायत्री मन्त्र का सामान्य उपासना क्रम चलता रहा है। हां, जितनी देर तक भजन करने बैठे हैं उतनी देर तक यह भावना अवश्य करते रहते हैं कि ब्रह्म की परम तेजोमयी सत्ता, माता गायत्री का दिव्य प्रकाश हमारे रोम-रोम में ओत-प्रोत हो रहा है और प्रचण्ड अग्नि में पड़ कर लाल हुए लोहे की तरह हमारा भोंड़ा अस्तित्व उसी स्तर का उत्कृष्ट बन गया है जिस स्तर का कि हमारा इष्टदेव है। शरीर के कण परमाणुओं में गायत्री माता का ब्रह्म वर्चस् समा जाने से काया का हर अवयव ज्योतिर्मय हो उठा और उस अग्नि से इन्द्रियों की लिप्सा, जल कर भस्म हो गई, आलस्य आदि दुर्गुण नष्ट हो गये। रोग विकारों ने उस अग्नि को अपने में जला दिया। शरीर तो अपना है पर उसके भीतर प्रचंड ब्रह्म वर्चस् लहलहा रहा है। वाणी में केवल सरस्वती ही शेष है। असत्य, छल और स्वाद के असुर उस दिव्य मन्दिर को छोड़कर पलायन कर गये। नेत्रों में गुण ग्राहकता और भगवान् का सौन्दर्य हर जड़ चेतन में देखने की क्षमता भर शेष है। छिद्रान्वेषण कामुकता, जैसे दोष आंखों में नहीं रहे। कान केवल जो मंगलमय है उसे ही सुनते हैं। बाकी कोलाहल मात्र है जो श्रवणेन्द्रिय के पर्दे से टकराकर वापस लौट जाता है।

गायत्री माता का परम तेजस्वी प्रकाश सूक्ष्म शरीर में—अन्तःकरण चतुष्टय में—मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार में—प्रवेश करते और प्रकाशवान होते देखा और अनुभव किया कि वह ब्रह्म वर्चस् अपने मन को उस भूमिका में घसीटे लिये जा रहा है जिसमें पाशविक इच्छा आकांक्षाएं विरत हो जाती हैं और दिव्यता परिप्लावित कर सकने वाली आकांक्षाएं सजग हो पड़ती हैं। बुद्धि-निर्णय करती है कि क्षणिक आवेशों के लिए, तुच्छ प्रलोभनों के लिए मानव-जीवन जैसी उपलब्धि विनष्ट नहीं की जा सकती इसका एक-एक पल आदर्शों की प्रतिष्ठापना के लिये खर्च किया जाना चाहिए। चित्त में उच्च निष्ठायें जमती और सत्यं शिवं सुन्दरम् की ओर बढ़ चलने की उमंगे उत्पन्न करती हैं। सविता देवता का तेजस् अपनी अन्तः भूमिका में प्रवेश करके 'अहं' को परिष्कृत करता है और मरणधर्मा जीवधारियों की स्थिति से योजनों ऊपर उड़ा ले जाकर ईश्वर के सर्व समर्थ परम-पवित्र और सच्चिदानन्द स्वरूप में अवस्थिति कर देता है।

गायत्री पुरश्चरणों के समय केवल जप ही नहीं किया जाता रहा—साथ ही भाव-तरंगों से मन भी हिलोरें लेता रहा। कारण शरीर-भाव-भूमि का-अन्तस्तल में आत्म-बोध, आत्म-दर्शन, आत्मानुभूति और आत्म विस्तार की अनुभूति की अन्तज्योति के रूप में अनुभव किया जाता रहा। लगा अपनी आत्मा परम तेजस्वी सविता देवता के प्रकाश में पतंगों के दीपक पर समर्पित होने की तरह विलीन हो गया। अपना अस्तित्व समाप्त उसकी स्थान पूर्ति परम तेजस द्वारा। मैं समाप्त-तू का आधिपत्य। आत्मा और परमात्मा के अद्वैत मिलन की अनुभूति में ऐसे ब्रह्मानन्द की सरसता क्षण-क्षण अनुभूति होती रही जिस पर संसार भर का समवेत विषयानन्द निछावर किया जा सकता है। जप के साथ स्थूल, सूक्ष्म कारण शरीरों में दिव्य प्रकाश की प्रतिष्ठापना आरम्भ में प्रयत्न पूर्वक ध्यान धारणा के रूप में की गई थी, पीछे वह स्वाभाविक प्रकृति बनी और अन्ततः प्रत्यक्ष, अनुभूति बन गई। जितनी देर उपासना में बैठा गया अपनी सत्ता के भीतर और बाहर परम तेजस्वी-सविता की दिव्य ज्योति का सागर ही लहलहाता रहा और यही प्रतीत होता रहा कि हमारा अस्तित्व इस दिव्य ज्योति से ओत-प्रोत हो रहा है। प्रकाश के अतिरिक्त अंतरंग और बहिरंग में और कुछ है ही नहीं प्राण को हर स्फुरण में ज्योति स्फुल्लिंगों के अतिरिक्त और कुछ बचा ही नहीं। इस अनुभूति में कम से कम पूजा के समय की अनुभूति को दिव्य-दर्शन और दिव्य अनुभव से ओत-प्रोत बनाये ही रखा। साधना का प्रायः सारा ही समय इस अनुभूति के साथ बीता।

पूजा के 6 घन्टे शेष 18 घण्टों को भरपूर प्रेरणा देते रहे। काम करने का जो समय रहा उसमें यह लगता रहा इष्ट देवता का तेजस् ही अपना मार्ग-दर्शक है, उसके संकेतों पर ही प्रत्येक क्रिया-कलाप बन और चल रहा है। लालसा और लिप्सा से तृष्णा और वासना से प्रेरित अपना कोई कार्य हो रहा हो ऐसा कभी लगा ही नहीं, छोटे बालक की मां जिस प्रकार उंगली पकड़ कर चलती है उसी प्रकार उस दिव्य-सत्ता ने मस्तिष्क को पकड़ कर ऊंचा सोचने और शरीर को पकड़ कर ऊंचा करने के लिए विवश कर दिया। उपासना के अतिरिक्त जागृत अवस्था के जितने घंटे रहे उनमें शारीरिक नित्य-कर्मों से लेकर आजीविका उपार्जन, स्वाध्याय चिन्तन, परिवार व्यवस्था आदि की समस्त क्रियायें इस अनुभूति के साथ चलती रहीं मानो परमेश्वर ही इन सबका नियोजन और संचालन कर रहा हो। रात को सोने के 6 घण्टे ऐसी गहरी नींद में बीतते रहे मानो समाधि लग गई हो और माता के आंचल में अपने को सौंप कर परम शांति और सन्तुष्टि की भूमिका में आत्म-सत्ता से तादात्म्यता प्राप्त कर ली हो। सोकर जब उठे तो लगा नया जीवन, नया उल्लास, नया प्रकाश-अग्रिम मार्ग दर्शन के लिए पहले से ही पथ-प्रदर्शक के लिए सामने खड़ा है।

24 वर्ष के 24 महा पुरश्चरण काल में कोई सामाजिक-पारिवारिक जिम्मेदारियां कंधे पर नहीं थीं। सो अधिक तत्परता और तन्मयता के साथ यह जप ध्यान का साधना क्रम ठीक तरह चलता रहा। मातृवत् पर दारेषु और पर द्रव्येषु लोष्ठ वत् की अटूट निष्ठा ने काया को पाप कर्मों से बचाये रखा। अन्न की सात्त्विकता ने मन को मानसिक अधःपतन के गर्म में गिरने से भली प्रकार रोक रखने में सफलता पाई। जौ की रोटी और गाय की छाछ का आहार रुचा भी और पचा भी। जैसा अन्न वैसा मन की सचाई हमने अपने जीवन काल में पग-पग पर अनुभव की। यदि शरीर और मन का संयम कठोरता पूर्वक न बढ़ता गया होता तो न जाने जो थोड़ी सी प्रगति हो सकती वह हो सकी होती या नहीं।

***

हमारे दृश्य जीवन की अदृश्य अनुभूतियां

****

अपनी अध्यात्म साधना की दो मंजिलें 24 वर्ष में पूरी हुई। मातृवत् परदारेषु, परद्रव्येषु लोष्ठवत् आदर्शों में व्यतिक्रम प्रायः युवावस्था ही होता है। काम और लोभ की प्रबलता के वही दिन हैं सो 15 वर्ष की आयु से लेकर 24 वर्षों में 40 तक पहुंचते पहुंचते वह उफान ढल गया। कामनाएं, वासनायें, तृष्णायें, महत्वाकांक्षायें प्रायः इसी आयु में आकाश-पाताल के कुलावे मिलाती हैं। यह अवधि स्वाध्याय, मनन, चिन्तन से लेकर आत्म-संयम और जप-ध्यान की साधना में लग गई। इसी आयु में बहुत करके मनोविकार प्रबल रहते हैं सो आमतौर से परमार्थ प्रयोजनों के लिए ढलती आयु के व्यक्तियों को ही प्रयुक्त किया जाता है।

उठती उम्र के लोग अर्थ व्यवस्था से लेकर सैन्य संचालक तक अनेक महत्वपूर्ण कार्यों का उत्तरदायित्व अपने कन्धों पर उठाते हैं और उन्हें उठाने चाहिये। महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिये इन क्षेत्रों में बहुत अवसर रहता है। सेवा कार्यों में योगदान भी नवयुवक बहुत दें सकते हैं पर लोक मंगल के लिए नेतृत्व करने की वह अवधि नहीं है। शंकराचार्य, दयानन्द, विवेकानन्द, रामदास, मीरा, निवेदिता जैसे थोड़े ही अपवाद ऐसे हैं जिन्होंने उठती उम्र में ही लोक मंगल के नेतृत्व का भार कन्धों पर सफलता पूर्वक वहन किया हो। आमतौर से कच्ची उम्र गड़बड़ी ही फैलाती है। यश, पद की इच्छा, धन का प्रलोभन, वासनात्मक आकर्षण के बने रहते जो सार्वजनिक क्षेत्र में प्रवेश करते हैं वे उलटी विकृति पैदा करते हैं। अच्छी संस्थाओं का भी सर्वनाश इसी स्तर के लोगों द्वारा होता रहता है। यों बुराई भलाई किसी आयु विशेष से बंधी नहीं रहती पर प्रकृति की परम्परा कुछ ऐसी ही चली आती है जिसके कारण युवावस्था महत्वाकांक्षाओं की अवधि मानी गई है। ढलती उम्र के साथ-साथ स्वभावतः आदमी कुछ ढीला पड़ जाता है तब उसकी भौतिक लालसाएं भी ढीली पड़ जाती हैं। मरने की बात याद आने से लोक परलोक, धर्म कर्म भी रुचता है इसलिए तत्त्व वेत्ताओं ने वानप्रस्थ और संन्यास के लिए उपयुक्त समय आयु के उत्तरार्ध को ही माना है।

न जाने क्या रहस्य था कि हमें हमारे मार्ग दर्शक ने उठती आयु में तपश्चर्या के कठोर प्रयोजन में उन्मुक्त कर दिया और देखते-देखते उसी प्रयास में 40 साल की उम्र पूरी हो गई। हो सकता है वर्चस्व और नेतृत्व के अहंकार का—महत्वाकांक्षाओं और प्रलोभनों में बह जाने—का खतरा समझा गया हो। हो सकता है आन्तरिक परिपक्वता—आत्मिक बलिष्ठता पाये बिना कुछ बड़ा काम न बन पड़ने की आशंका की गई हो। हो सकता है महान् कार्यों के लिए अत्यन्त आवश्यक संकल्प, बल, धैर्य, साहस और सन्तुलन परखा गया हो। जो ही अपनी उठती आयु उस साधन क्रम में बीत गई जिसकी चर्चा कई बार कर चुके हैं।

उस अवधि में सब कुछ सामान्य चला, असामान्य एक ही था—हमारा गौ घृत से अहर्निशि जलने वाला अखण्ड दीपक। पूजा की कोठरी में वह निरन्तर जलता रहता। इसका वैज्ञानिक या आध्यात्मिक रहस्य क्या था कुछ ठीक से नहीं कह सकते। गुरु सो गुरु, आदेश सो आदेश, अनुशासन सो अनुशासन, समर्पण सो समर्पण। एक बार जब ठोक बजा लिया और समझ लिया कि इसकी नाव में बैठने पर डूबने का खतरा नहीं है तो फिर आंख मूंदकर बैठ ही गये। फौजी सैनिक को अनुशासन प्राणों से भी अधिक प्यारा होता है अपनी अन्धश्रद्धा कहिये अनुशासन प्रियता, या जीवन की दिशा निर्धारित जो करदी गई, कार्य पद्धति जो बतादी गई उसे सर्वस्व मानकर पूरी निष्ठा और तत्परता के साथ करते चले गये। अखण्ड दीपक की साधना कक्ष में स्थापना भी इसी प्रक्रिया के अन्तर्गत आती है। मार्गदर्शक पर विश्वास किया—उसे अपने आपको सौंप दिया तो उखाड़-पछाड़ क्रिया में तर्क सन्देह क्यों? वह अपने से बन नहीं पड़ा। जो साधना हमें बताई गई उसमें अखण्ड दीपक का महत्व है इतना बता देने पर उसकी स्थापना करली गई

और पुरश्चरणों की पूरी अवधि तक उसे ठीक तरह जलाये रखा गया। पीछे तो यह प्राण प्रिय ही बन गया। 24 वर्ष बीत जाने पर उसे बुझाया जा सकता था पर यह कल्पना भी ऐसी लगती है कि हमारा प्राण ही बुझ जायेगा सो उसे आजीवन चालू रखा जायेगा। हम अज्ञातवास गये थे—अब फिर जा रहे हैं तो उसे धर्म पत्नी संजोये रखेगी। यदि एकाकी रहे होते पत्नी न होती तो और कुछ साधना बन सकती थी। अखण्ड दीपक संजोये रखना कठिन था। कर्मचारी, शिष्य या दूसरे अश्रद्धालु एवं आन्तरिक दृष्टि से दुर्बल लोग ऐसी दिव्य अग्नि को संजोये नहीं रह सकते। अखण्ड दीपक स्थापित करने वालों में से अनेकों के जलते बुझते रहते हैं, वे नाम मात्र के ही अखण्ड हैं। अपनी ज्योति अखण्ड बनी रही इसका कारण बाह्य सतर्कता नहीं अन्तर्निष्ठा ही समझी जानी चाहिए जिसे अक्षुण्य रखने में हमारी धर्मपत्नी ने असाधारण योगदान दिया।

हो सकता है अखण्ड दीपक अखण्ड यज्ञ का स्वरूप हो। धूप बत्तियों का जलना, हवन सामग्री की—जप मन्त्रोच्चारण की और दीपक घी होमे जाने की आवश्यकता पूरी करता हो और इस तरह अखण्ड हवन की कोई स्वसंचालित प्रक्रिया बन जाती हो। हो सकता है जल भरे कलश और ज्वलन्त अग्नि की स्थापना में कोई अग्नि जल का संयोग रेल इंजन जैसी भाप शक्ति का सूक्ष्म प्रयोजन पूरा करता हो। हो सकता है अन्तर्ज्योति जगाने में इस बाह्य ज्योति से कुछ सहायता मिलती हो, जो हो अपने को इस अखण्ड ज्योति में भावनात्मक प्रकाश, अनुपम आनन्द, उल्लास से भरा पूरा मिलता रहा। बाहर चौकी पर रखा हुआ यह दीपक कुछ दिन तो बाहर ही बाहर जलता दीखा, पीछे अनुभूति बदली और लगा कि हमारे अन्तःकरण में यही प्रकाश ज्योति ज्यों की त्यों जलती है और जिस प्रकार पूजा की कोठरी प्रकाश से आलोकित होती है वैसे ही अपना समस्त अन्तरंग इस ज्योति से ज्योतिर्मय हो रहा है। शरीर, मन और आत्मा में—स्थूल सूक्ष्म-सूक्ष्म और कारण कलेवर में हम जिस ज्योतिर्मयता का ध्यान करते रहे हैं, सम्भवतः वह इस अखण्ड दीपक की ही प्रतिक्रिया रही होगी। उपासना की सारी अवधि में भावना क्षेत्र वैसे ही प्रकाश से जगमगाता रहा है, जैसा कि उपासना कक्ष में अखण्ड दीप आलोक बिखेरता है। अपना सब कुछ प्रकाशमय है। अन्धकार के आवरण हट गये। अन्ध तमिस्रा की मोह ग्रस्तता जल गई, प्रकाश पूर्ण भावनायें—विचारणायें और गतिविधियां शरीर और मन पर आच्छादित हैं। सर्वत्र प्रकाश का समुद्र लहलहा रहा है और हम तालाब की मछली की तरह उस ज्योति सरोवर में क्रीड़ा-कल्लोल करते विचरण करते हैं। इन अनुभूतियों, आत्मबल, दिव्य दर्शन और अन्तः उल्लास को विकासमान बनाने में इतनी सहायता पहुंचाई कि जिसका कुछ उल्लेख नहीं किया जा सकता। हो सकता है यह कल्पना ही हो पर सोचते जरूर हैं कि यदि यह अखण्ड ज्योति जलाई न गई होती तो पूजा की कोठरी के धुंधलेपन की तरह शायद अंतरंग भी धुंधला बना रहता। अब तो वह दीपक दीपावली के दीप पर्व की तरह अपनी नस-नाड़ियों में जगमगाता दीखता है। अपनी भाव भरी अनुभूतियों के प्रवाह में ही जब 32 वर्ष पूर्व पत्रिका आरम्भ की तो संसार का सर्वोत्तम नाम जो हमें प्रिय लगता था—पसन्द आता था ''अखंड ज्योति'' रख दिया। हो सकता है उसी भावावेश में प्रतिष्ठापित पत्रिका का छोटा सा विग्रह संसार में मंगलमय प्रगति की प्रकाश किरणें बिखेरने में समर्थ और सफल हो सका हो।

साधना के तीसरे चरण में प्रवेश करते हुए ''आत्म वत् सर्व भूतेषु'' की किरणें फूट पड़ीं। मातृवत् पर दारेषु और परद्रव्येषु लोष्ठवत् की साधना अपने काय कलेवर तक ही सीमित थी। दो आंखों में पाप आया तो तीसरी विवेक की आंख खोलकर उसे डरा भगा दिया। शरीर पर कड़े प्रतिबन्ध लगा दिये और वैसी परिस्थितियां बनने की जिनमें आशंका रहती है उनकी जड़ काट दी तो दुष्ट व्यवहार असम्भव हो गया। मातृवत् पर दारेषु की साधना बिना अड़चन के सध गई। मन ने सिर्फ आरम्भिक दिनों में ही हैरान किया। शरीर ने सदा हमारा साथ दिया। मन ने जब हार स्वीकार करली तो वह हताश होकर हरकतों से बाज आ गया। पीछे तो वह अपना पूरा मित्र और सहयोगी ही बन गया। स्वेच्छा से गरीबी वरण कर लेने—आवश्यकताएं घटाकर अन्तिम बिन्दु तक ले आने और संग्रह की भावना छोड़ने से 'परद्रव्य' का आकर्षण चला गया। पेट भरने के लिए, तन ढकने के लिए जब स्व उपार्जन ही पर्याप्त था तो

'परद्रव्य' के अपहरण की बात क्यों सोची जाय? जो बचा, जो मिला—सो देते बांटते ही रहे। बांटने और देने का चस्का जिसे लग जाता है, जो उस अनुभूति का आनन्द लेने लगता है उसे संग्रह करते बन नहीं पाता। फिर किस प्रयोजन के लिए परद्रव्य का पाप कमाया जाय? गरीबी का—सादगी का—अपरिग्रही ब्राह्मण जीवन अपने भीतर एक असाधारण आनन्द, सन्तोष और उल्लास भरा बैठा है, इसकी अनुभूति यदि लोगों को हो सकती होती तो शायद ही किसी का मन परद्रव्य की पाप पोटली सिर पर लादने को करता। अपरिग्रही कहने भर जो है उसका अनुदान देने की प्रतिक्रिया अन्तःकरण पर कितनी अनोखी होती है उसे कोई कहां जानता है? पर अपने को तो यह दिव्य विभूतियों का भण्डार अनायास ही हाथ लग गया।

अगले कदम बढ़ने पर तीसरी मंजिल आती है—'आत्मवत् सर्व भूतेषु'। अपने समान सबको देखना। कहने-सुनने में यह शब्द मामूली से लगते हैं और सामान्यतया नागरिक कर्त्तव्यों का पालन, शिष्टाचार, सद्व्यवहार की सीमा तक पहुंच कर बात पूरी हो गई दीखती है पर वस्तुतः इस तत्त्व ज्ञान की सीमा अति विस्तृत है उसकी परिधि वहां पहुंचती है जहां परमात्म सत्ता के साथ घुल जाने की स्थिति आ पहुंचती है। इस साधना के लिए दूसरे के अंतरंग के साथ अपना अन्तरंग जोड़ना पड़ता है और उसकी सम्वेदनाओं को अपनी सम्वेदना समझना पड़ता है। वसुधैव कुटुम्बकम् की मान्यता का यही मूर्त रूप है कि हम हर किसी को अपना मानें। अपने को दूसरों में और दूसरों को अपने में पिरोया हुआ—घुला हुआ अनुभव करें। इस अनुभूति की प्रतिक्रिया यह होती है कि दूसरों के सुख में अपना सुख और दूसरों के दुःख में अपना दुःख अनुभव होने लगता है। ऐसा मनुष्य अपने तक सीमित नहीं रह सकता, स्वार्थों की परिधि में आबद्ध रहना उसके लिए कठिन हो जाता है। दूसरों का दुःख मिटाने और सुख बढ़ाने के प्रयास उसे बिलकुल ऐसे लगते हैं मानो यह सब अपने नितान्त व्यक्तिगत प्रयोजन के लिए किया जा रहा हो।

संसार में अगणित व्यक्ति पुण्यात्मा और सुखी हैं, सन्मार्ग पर चलते और मानव जीवन को धन्य बनाते हुए अपना पराया कल्याण करते हैं यह देख सोचकर जी को बड़ी सांत्वना होती है और लगता है सचमुच यह दुनिया ईश्वर ने पवित्र उद्देश्यों की पूर्ति के लिए बनाई है। यहां पुण्य और ज्ञान मौजूद है जिसका सहारा लेकर कोई भी आनन्द उल्लास की—शान्ति और सन्तोष की दिव्य उपलब्धियां समुचित मात्रा में प्राप्त कर सकता है। पुण्यात्मा, परोपकारी और आत्मावलम्बी व्यक्तियों का अभाव यहां नहीं है। वे संख्या में कम भले ही हों पर अपना प्रकाश तो फैलाते ही हैं और उनका अस्तित्व यह तो सिद्ध करता ही है कि मनुष्य में देवत्व मौजूद है और उसे जो चाहे थोड़े से प्रयत्न से सजीव एवं सक्रिय कर सकता है धरती वीर विहीन नहीं। यहां नर-नारायण का अस्तित्व विद्यमान है। परमात्मा कितना महान्, उदार और दिव्य हो सकता है इसका परिचय उसकी प्रतिकृति उन आत्माओं में देखी जा सकती है जिन्होंने श्रेय पथ का अवलम्बन किया और कांटों को तलवों से रौंदते हुए लक्ष्य की ओर शान्ति, श्रद्धा एवं हिम्मत के साथ बढ़ते चले गये। मनुष्यता को गौरवान्वित करने वाले इन महामानवों का अस्तित्व ही इस जगती को इस योग्य बनाये हुए है कि भगवान बार-बार नर तनु धारण करके अवतार लेने के लिए ललचायें। आदर्शों की दुनिया में विचरण करने वाले और उत्कृष्टता की गतिविधियों को अवलम्बन बनाने वाले महामानव बहिरंग में अभाव ग्रस्त दीखते हुए भी अन्तरंग में कितने समृद्ध और सुखी रहते हैं यह देखकर अपना चित्त भी पुलकित होने लगा। उनकी शान्ति अपने अन्तःकरण को छूने लगी। महाभारत की वह कथा अक्सर याद आती रही जिसमें पुण्यात्मा युधिष्ठिर के कुछ समय तक नरक जाने पर वहां रहने वाले प्राणी आनन्द में विभोर हो गये थे। लगता रहा जिन पुण्यात्माओं की स्मृति मात्र से अपने को सन्तोष और प्रकाश मिलता वे स्वयं न जाने कितनी दिव्य अनुभूतियों का अनुभव करते होंगे।

इस कुरूप दुनिया में जो कुछ सौन्दर्य है वह इन पुण्यात्माओं का अनुदान है। असीम अस्थिरता से निरन्तर प्रेत पिशाचों जैसा हाहाकारी नृत्य करने वाले अणु परमाणुओं से बनी—भरी इस दुनिया में जो स्थिरता और शक्ति है वह इन पुण्यात्माओं द्वारा ही उत्पन्न की गई है। सर्वत्र भरे बिखरे जड़ पंचतत्वों में सरसता और शोभा दीखती है उसके पीछे इन सत्पथ गामियों का प्रयत्न और

पुरुषार्थ ही झांक रहा है। प्रलोभनों और आकर्षणों के जंजाल के बन्धन काटकर जिनने सृष्टि को सुरभित और शोभामय बनाने की ठानी उनकी श्रद्धा ही धरती को धन्य बनाती रही है। जिनके पुण्य प्रयास लोक-मंगल के लिए निरन्तर गतिशील रहे, इच्छा होती रही इन नर-नारायणों के दर्शन और स्मरण करके पुण्यफल पाया जाय। इच्छा होती रही इनकी चरण रज मस्तक पर रखकर अपने को धन्य बनाया जाय। जिनने आत्मा को परमात्मा बना लिया—उन पुरुष पुरुषोत्तमों में प्रत्यक्ष परमेश्वर की झांकी करके लगता रहा अभी भी ईश्वर साकार रूप में इस पृथ्वी पर निवास करते विचरते दीख पड़ते हैं। अपने चारों ओर इतना पुण्य परमार्थ विद्यमान दिखाई पड़ते रहना बहुत कुछ सन्तोष देता रहा और यहां अनन्त काल तक रहने के लिये मन करता रहा। इन पुण्यात्माओं का सान्निध्य प्राप्त करने में स्वर्ग, मुक्ति, सिद्धि आदि सबसे अधिक आनन्द पाया जा सकता है इस सच्चाई के अनुभवों ने हस्तामलकवत् स्वयं सिद्ध करके सामने रख दिया और कठिनाइयों से भरे जीवन क्रम के बीच इसी विश्व सौन्दर्य का स्मरण कर उल्लसित रहा जा सका।

आत्मवत् सर्व भूतेषु की यह सुखोपलब्धि एकांगी न रही, उसका दूसरा पक्ष भी सामने अड़ा रहा। संसार में दुःख कम नहीं। कष्ट और क्लेश—शोक और सन्ताप—अभाव और दारिद्रय से अगणित व्यक्ति नारकीय यातनाएं भोग रहे हैं। समस्याएं, चिन्ताएं और उलझनें लोगों को खाये जा रही हैं। अन्याय और शोषण के कुचक्र में असंख्यों को वेतरह पिसना पड़ रहा है। दुर्बुद्धि ने सर्वत्र नारकीय वातावरण बना रखा है। अपराधों और पापों के दावानल में झुलसते, बिलखते, चिल्लाते, चीत्कार करते लोगों की यातनाएं ऐसी हैं जिससे देखने, सुनने वालों के रोमांच हो आते हैं फिर जिन्हें वह सब सहना पड़ता है उनका तो कहना ही क्या? सुख सुविधाओं की साधन सामग्री इस संसार में कम नहीं है, फिर भी दुःख और दैन्य के अतिरिक्त और कहीं कुछ दिखाई ही नहीं पड़ता। एक दूसरे को स्नेह सद्भाव का सहारा देकर व्यथा वेदनाओं से छुटकारा दिला सकते थे—प्रगति और समृद्धि की सम्भावना प्रस्तुत कर सकते थे पर किया क्या जाय जब मनोभूमि विकृत हो गई सब कुछ उलटा सोचा और अनुचित किया जाने लगा तो विष वृक्ष बोकर अमृत फल पाने की आशा कैसे सफल होती?

सर्वत्र फैला दुःख, दारिद्रय, शोक, सन्ताप किस प्रकार समस्त मानव प्राणियों को कितना कष्ट हो रहा है। पतन और पाप के गर्त में लोग किस शान और तेजी से गिरते मरते चले जा रहे हैं यह दयनीय दृश्य देखे, सुने तो अन्तरात्मा रोने लगी। मनुष्य अपने ईश्वरीय अंश अस्तित्व को क्यों भूल गया? उसने अपना स्वरूप और स्तर इतना क्यों गिरा दिया? यह प्रश्न निरन्तर मन में उठे पर उत्तर कुछ न दिया। बुद्धिमानी, चतुरता, समझ कुछ भी तो यहां कम नहीं है। लोग एक से एक बढ़कर कला कौशल उपस्थित करते हैं और एक से एक बढ़कर चातुर्य चमत्कार का परिचय देते हैं पर इतना क्यों समझ नहीं पाते कि दुष्टता और निष्कृष्टता का पल्ला पकड़ कर वे जो पाने की आशा करते हैं वह मृग तृष्णा ही बनकर रह जायगा केवल पतन और सन्ताप ही हाथ लगेगा। मानवीय बुद्धिमत्ता में यदि एक कड़ी और जुड़ गई होती, समझदारी ने इतना और निर्देश किया होता कि ईमान को साबित और सौजन्य को विकसित किये रहना मानवीय गौरव के अनुरूप और प्रगति के लिए आवश्यक है तो इस संसार की स्थिति कुछ दूसरी ही होती। फिर सुख-शान्ति का जीवन जी रहे होते। किसी को किसी पर अविश्वास, सन्देह न करना पड़ता और किसी के द्वारा ठगा, सताया न जाता। तब यहां दुःख, दारिद्रय का अता पता भी न मिलता सर्वत्र सुख-शान्ति की सुरभि फैली अनुभव होती।

समझदार मनुष्य इतना नासमझ क्यों जो पाप का फल दुःख और पुण्य का फल सुख होता है इतनी मोटी बात को भी मानने के लिये तैयार नहीं होता। इतिहास और अनुभव का प्रत्येक अंकन अपने गर्भ में यह छिपाये बैठा है कि अनीति अपना कर—स्वार्थ संकीर्णता से आबद्ध रहकर हर किसी को पतन और संताप ही हाथ लगा है। उदात्त और निर्मल हुए बिना किसी ने भी शांति नहीं पाई है। सम्मान और उत्कर्ष की सिद्धि किसी को भी आदर्शवादी रीति-नीति अपनाये बिना नहीं मिली है। कुटिलता सात पर्दे भेद कर

अपनी पोल आप खोलती रहती है यह हम पग-पग पर देखते हैं फिर भी न जाने क्यों यही सोचते रहते हैं कि हम संसार की आंखों में धुल झौंक कर अपनी धूर्तता को छिपाये रहेंगे। कोई हमारी दुरभि सन्धियों की गन्ध न पा सकेगा और लुक छिपकर आंख मिचौनी का खेल सदा खेला जाता रहेगा यह सोचने वाले लोग यह क्यों भूल जाते हैं कि हजारों आंख से देखने—हजारों कानों से सुनने और हजारों पकड़ से पकड़ने वाला विश्वात्मा—किसी की भी धूर्तता पर पर्दा नहीं पड़ा रहने देता। वस्तुस्थिति प्रकट होकर रहती है और दुष्टता छत पर चढ़कर अपनी कलई आप खोलती और अपनी दुरभिसन्धि आप बखानती है। यह सनातन सत्य और पुरातन तथ्य लोग समझ सके होते और अशुभ का अवलंबन करने पर जो दुर्गति होती है उसे अनुभव कर सके होते तो क्यों सन्मार्ग का राजपथ छोड़कर कंटकाकीर्ण कुमार्ग पर भटकते? और क्यों रोते बिलखते इस सुरदुर्लभ मानव जीवन को सड़ी हुई लाश की तरह ढोते, घसीटते?

दुर्बुद्धि का कैसा जाल-जंजाल बिखरा पड़ा है और उससे कितने निरीह प्राणी—करुण चीत्कार करते हुए फंसे जकड़े पड़े हैं, यह दयनीय दुर्दशा अपने लिए मर्मान्तक पीड़ा का कारण बन गई। आत्मवत् सर्व भूतेषु की साधना ने विश्व मानव की इस पीड़ा को अपनी पीड़ा बना दिया लगने लगा—मानो अपने ही हाथ पांवों को कोई ऐंठ, मरोड़ और जला रहा हो। ''सबमें अपना आत्मा पिरोया हुआ है और सब अपनी आत्मा में पिरोये हुए हैं'' गीता का यज्ञ ज्ञान जहां तक पढ़ने सुनने से सम्बन्धित रहे वहां तक कुछ हर्ज नहीं, पर जब वह अनुभूति की भूमिका में उतरे और अन्तःकरण में प्रवेश प्राप्त करे तो स्थिति दूसरी ही हो जाती है। अपने अंग अवयवों का कष्ट अपने को जैसा व्यथित बेचैन करता है—अपने स्त्री, पुत्रों की पीड़ा जैसे अपना चित्त विचलित करती है ठीक वैसे ही आत्म-विस्तार की दिशा में बढ़ चलने पर लगता है कि विश्वव्यापी दुःख अपना ही दुःख है और व्यथित पीड़ितों की वेदना अपने को ही नोंचती कचोटती है।

पीड़ित मानवता की—विश्वात्मा की—व्यक्ति और समाज की व्यथा वेदना अपने भीतर उठने और बेचैन करने लगी। आंख, डाढ़ और पेट के दर्द से बेचैन मनुष्य व्याकुल फिरता है कि किस प्रकार—किस उपाय से इस कष्ट से छुटकारा पाया जाय? क्या किया जाय? कहां जाया जाय? की हलचल मन में उठती है और जो सम्भव है उसे करने के लिए क्षण भर का विलम्ब न करने की आतुरता व्यग्र होती है। अपना मन भी ठीक ऐसा ही बना रहा। दुर्घटना में हाथ पैर टूटे बच्चे को अस्पताल ले दौड़ने की आतुरता में मां अपने बुखार जुकाम को भूल जाती है और बच्चे को संकट में से बचाने के लिए बेचैन हो उठती है। लगभग अपनी मनोदशा ऐसी ही तब से लेकर अद्यावधि—चली आती है। अपने सुख साधन जुटाने की फुरसत किसे है? विलासिता की सामग्री जहर सी लगती है, विनोद और आराम के साधन जुटाने की बात कभी सामने आई तो आत्म-ग्लानि से उस क्षुद्रता को धिक्कारा जो मरणासन्न रोगियों के प्राण बचा सकने में समर्थ पानी के एक गिलास को अपने पैर धोने की विडम्बना में बखेरने के लिए ललचाती है। भूख से तड़प कर प्राण त्यागने की स्थिति में पड़े हुए बालकों के मुख में जाने वाला ग्रास छीनकर माता कैसे अपना भरा पेट और भरे? दर्द से कराहते बालक को मुंह मोड़कर पिता कैसे ताश शतरंज का साज सजाये? ऐसा कोई निष्ठुर ही कर सकता है। आत्मवत् सर्व भूतेषु की सम्वेदना जैसे ही प्रखर हुई निष्ठुरता उसी में गल-जलकर नष्ट हो गई। जी में केवल करुणा ही शेष रह गई, वही अब तक जीवन के इस अन्तिम अध्याय तक यथावत् बनी हुई है। उसमें कमी रत्ती भर भी नहीं हुई—वरन् दिन-दिन बढ़ोतरी ही होती गई।

सुना है कि आत्म-ज्ञानी सुखी रहते हैं और चैन की नींद सोते हैं। अपने लिए ऐसा आत्म-ज्ञान अभी तक दुर्लभ ही बना हुआ है। ऐसा आत्म-ज्ञान कभी मिल भी सकेगा या नहीं इसमें पूरा-पूरा सन्देह है। जब तक व्यथा वेदना का अस्तित्व इस जगती में बना रहे, जब तक प्राणियों को क्लेश और कष्ट की आग में जलना पड़े, तब तक हमें भी चैन से बैठने की इच्छा न हो, जब भी प्रार्थना का समय आया तब भगवान् से निवेदन यही किया। हमें चैन नहीं, वह करुणा चाहिए जो पीड़ितों की व्यथा को अपनी व्यथा

समझने की अनुभूति करा सके, हमें समृद्धि नहीं वह शक्ति चाहिये जो आंखों से आंसू पोंछ सकने की अपनी सार्थकता सिद्ध कर सके। बस इतना ही अनुदान वरदान भगवान से मांगा और लगा कि द्रोपदी को वस्त्र देकर उसकी लज्जा बचाने वाले भगवान् हमें करुणा की अनन्त संवेदनाओं से ओत-प्रोत करते चले जाते हैं। अपने को क्या कुछ कष्ट और अभाव है इसे सोचने की फुरसत ही कब मिली? अपने को क्या सुख साधन चाहिए इसका ध्यान ही कब आया है? केवल पीड़ित मानवता की व्यथा वेदना ही रोम-रोम में समाई रही और यही सोचते रहे कि अपने विश्वव्यापी कलेवर परिवार को सुखी बनाने के लिए क्या किया जा सकता है। जो पाया उसका एक-एक कण हमने उसी प्रयोजन के लिए खर्चा किया जिससे शोक संताप की व्यापकता हटाने और संतोष की सांस ले सकने की स्थिति उत्पन्न करने में थोड़ा योगदान मिल सके।

हमारी कितनी रातें सिसकते बीती हैं—कितनी बार हम बालकों की तरह बिलख-बिलख कर फूट-फूट कर रोये हैं इसे कोई कहां जानता है? लोग हमें संत, सिद्ध, ज्ञानी मानते हैं, कोई लेखक, विद्वान्, वक्ता, नेता समझते हैं, पर किसने हमारा अन्तःकरण खोल कर पढ़ा समझा है। कोई उसे देख सका होता तो उसे मानवीय व्यथा वेदना की अनुभूतियों से, करण कराह से हाहाकार करती एक उद्विग्न आत्मा भर इस हड्डियों के ढांचे में बैठी बिलखती ही दिखाई पड़ती। कहां कथित आत्मज्ञान का निश्चिन्तता निर्द्वन्द्वता और कहां हमारी करुण कराहों से भरी अन्तरात्मा। दोनों में कोई ताल-मेल नहीं। सो जब कभी सोचा यही सोचा कि अभी वह ज्ञान जो निश्चिन्तता, एकाग्रता और समाधि सुख दिला सके हमसे बहुत दूर है। शायद वह कभी मिले भी नहीं क्योंकि इस दर्द में ही जब भगवान् की झांकी होती है, पीड़ितों के आंसू पोंछने में ही जब कुछ चैन अनुभव होता है तो उस निष्क्रिय मोक्ष और समाधि को प्रयास करने के लिए कभी मन चलेगा ऐसा लगता नहीं जिसकी इच्छा ही नहीं वह मिला भी किसे है?

पुण्य परोपकार की दृष्टि से कभी कुछ करते बन पड़ा हो सो याद नहीं आता। ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए कोई साधन बन पड़ा हो ऐसा स्मरण नहीं। आत्मवत् सर्वभूतेषु के आत्म-विस्तार ने सर्वत्र अपना ही आपा बिखरा दिखलाया तो वह मात्र दृष्टि दर्शन न रह गया। दूसरों की व्यथा वेदनायें भी अपनी बन गईं और वे इतनी अधिक चुभन, कसक पैदा करती रहीं कि उन पर मरहम लगाने के अतिरिक्त और कुछ सूझा ही नहीं। पुण्य करता कौन? परमार्थ के लिये फुरसत किसे थी? ईश्वर को प्रसन्न करके स्वर्ग मुक्ति का आनन्द लेना आया किसे? विश्व-मानव की तड़पन अपनी तड़पन बन रही थी सो पहले उसी से जूझना था, अन्य बातें तो ऐसी थीं जिनके लिए अवकाश और अवसर की प्रतीक्षा की जा सकती थी। हमारे जीवन के क्रिया-कलाप के पीछे उसके प्रयोजन को कभी कोई ढूंढ़ना चाहे तो उसे इतना ही जान लेना पर्याप्त है कि संत और सज्जनों की सद्भावना और सत्प्रवृत्तियों का जितने क्षण स्मरण दर्शन होता रहा उतने समय चैन की सांस ली और जब जन-मानस व्यथा वेदनाओं को सामने खड़ा पाया तो अपनी निज की पीड़ा से अधिक कष्ट अनुभव हुआ। लोक-मंगल, परमार्थ, सुधार, सेवा आदि के प्रयास कुछ यदि हमसे बन पड़े तो उस संदर्भ में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि यह हमारी विवशता भर थी। दर्द और जलन ने क्षण भर चैन से न बैठने दिया तो हम करते भी क्या? जो दर्द से इठा जा रहा है वह हाथ, पैर, न पटके तो क्या करे? हमारे अब तक के समस्त प्रयत्नों को लोग कुछ भी नाम दें, किसी रंग में रंगे, असलियत यह है कि विश्ववेदना की आन्तरिक अनुभूति ने करुणा और संवेदना का रूप धारण कर लिया और हम विश्ववेदना को आत्मवेदना मान कर उससे छुटकारा पाने के लिए बेचैन घायल की तरह प्रयत्न प्रयास करते रहे। भावनाएं इतनी उग्र रहीं कि अपना आपा तो भूल ही गये। त्याग, संयम, सादगी, अपरिग्रह आदि की दृष्टि से कोई हमारे कार्यों पर नजर डाले तो उसे इतना भर समझ लेना चाहिए कि जिस ढांचे में अपना अन्तःकरण ढल गया उसमें यह नितान्त स्वाभाविक था। अपनी समृद्धि, प्रगति, सुविधा, वाहवाही, हमें नापसंद हों ऐसा कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। उन्हें हमने जान-बूझ कर त्यागा सो बात नहीं है। वस्तुतः

विश्व-मानव की व्यथा अपनी वेदना बन कर इस बुरी तरह अन्तःकरण पर छाई रही कि अपने बारे में कुछ सोचने करने की फुरसत ही न मिली, वह प्रसंग सर्वथा विस्मृत ही बना रहा। इस विस्मृति को कोई तपस्या, संयम कहे तो उसकी मर्जी, पर जब स्वजनों को अपनी जीवन पुस्तिका के सभी उपयोगी पृष्ठ खोलकर पढ़ा रहे हैं तो वस्तु स्थिति बता ही देनी उचित है।

हमारी उपासना और साधना साथ-साथ मिलकर चली हैं। परमात्मा को हमने इसलिए पुकारा कि वह प्रकाश बन कर आत्मा में प्रवेश करे और तुच्छता को महानता में बदल दें। उसकी शरण में इसलिए पहुंचे कि उस महत्ता में अपनी क्षुद्रता विलीन हो जाय। वरदान केवल यह मांगा कि हमें वह सहृदयता और विशालता मिले जिसके अनुसार अपने में सब को और सब में अपने को अनुभव किया जा सकना सम्भव हो सके। 24 महा पुरश्चरणों का जप, ध्यान, तप, संयम सब इसी परिधि के इर्द-गिर्द घूमते रहे हैं।

अपनी साधनात्मक अनुभूतियों और उस मंजिल पर चलते हुये समक्ष आये उतार चढ़ावों की चर्चा इसलिए कर रहे हैं कि यदि किसी को आत्मिक प्रगति की दिशा में चलने का प्रयत्न करना हो—और वर्तमान परिस्थितियों में रहने वालों के लिए यह सब कैसे सम्भव हो सकता है? इसका प्रत्यक्ष उदाहरण ढूंढ़ना हो—तो उसे हमारी जीवन यात्रा बहुत मार्ग-दर्शन कर सकती हैं। वस्तुतः हमने एक प्रयोगात्मक जीवन जिया है। आध्यात्मिक आदर्शों का व्यावहारिक जीवन में तालमेल बिठाते हुए आन्तरिक प्रगति के पथ पर कैसे चला जा सकता है—और उसमें बिना भटके कैसे सफलता पाई जा सकती है, हम इसी तथ्य की खोज करते रहे हैं और उसी के प्रयोग में अपनी चिन्तन प्रक्रिया और शारीरिक गतिविधि केन्द्रित करते रहे हैं। हमारे मार्ग-दर्शक का इस दिशा में पूरा-पूरा सहयोग रहा है सो अनावश्यक जाल-जंजालों में उलझे बिना सीधे रास्ते पर सही दिशा में चलते रहने की सरलता उपलब्ध होती रही है। उसी की चर्चा इन पंक्तियों में उद्देश्य से कर रहे हैं कि जिन्हें इस मार्ग पर चलने की और सुनिश्चित सफलता प्राप्त करने का प्रत्यक्ष उदाहरण ढूंढ़ने की आवश्यकता है उन्हें अनुकरण के लिए एक प्रामाणिक आधार मिल सके।

आत्मिक प्रगति के पथ पर एक सुनिश्चित एवं क्रमबद्ध योजना के अनुसार चलते हुए हमने एक सीमा तक अपनी मंजिल पूरी करली है और उतना आधार प्राप्त कर लिया है जिसके बल पर यह अनुभव किया जा सके कि परिश्रम निरर्थक नहीं गया—प्रयोग असफल नहीं रहा। क्या विभूतियां या उपलब्धियां प्राप्त हुईं इसकी चर्चा हमारे मुंह शोभा नहीं देती। इसके जानने, सुनने और खोजने का अवसर हमारे चले जाने के बाद ही आना चाहिए। उसके इतने अधिक प्रमाण बिखरे पड़े मिलेंगे कि किसी अविश्वासी को भी यह विश्वास करने के लिए विवश किया जा सकेगा कि न तो आत्मविद्या का विज्ञान गलत है और न उस मार्ग पर सही ढंग से चलने वाले के लिए आशाजनक सफलता प्राप्त करने में कोई कठिनाई है। इस मार्ग पर चलने वाला आत्म-शान्ति, आन्तरिक शक्ति और दिव्य अनुभूति की परिधि में घूमने वाली अगणित उपलब्धियों से कैसे लाभान्वित हो सकता है इसका प्रत्यक्ष प्रमाण ढूंढ़ने के लिए भावी शोध कर्त्ताओं को हमारी जीवन प्रक्रिया बहुत ही सहायक सिद्ध होगी। समयानुसार ऐसे शोध कर्त्ता उन विशेषताओं और विभूतियों के अगणित प्रमाण-प्रत्यक्ष प्रमाण स्वयं ढूंढ़ निकालेंगे जो आत्मवादी-प्रभुपरायण जीवन में हमारी ही तरह हर किसी को उपलब्ध हो सकना सम्भव हैं।

***

समाप्त